मूल्य 25.

ISBN 81-7628-017-8

प्राप्ति स्थान-
- ज्ञानोदय विद्यापीठ, भोपाल (म प्र)
  फोन (0755) 785718, 785723
- गिफ्ट गारमेंट्स
  माधोगज, विदिशा (म प्र)
  फोन (07592) 32295

मुद्रक-
बुकमेन प्रिन्टर्स
दिल्ली-92
फोन 2455684, 2051723

This book is distributed at a reduced price
with the help of few friends

अपने परम गुरु
आचार्य श्री विद्यासागरजी को
सादर समर्पित

प्राक्कथन

यह सच है कि धर्म कुछ शब्दो के अर्थ समझ लेने या कुछ क्रियाओ के दोहरा लेने से समझ मे आने वाला नही है वह शब्दातीत है। यह भी सच है कि धर्म का रहस्य अनुभव से ही खुलता है। धर्म एक प्रयोग है वह सिर्फ विचारो का जोड नही है पर क्या करूँ शब्दातीत और अनुभवगम्य धर्म का क ख ग सीँखने मे शब्द मदद करते हे और अनुभव की ऊचाईयॉ छूने के लिए श्रेष्ठ विचारो की ठोस जमीन पर पैर टिकाना पड़ता हे, सो जैनदर्शन के अनुभवी आचार्यो के द्वारा कहे गए कुछ शब्दो और उनके भावो का परिचय इस शब्द कोश मे सग्रहीत करने का प्रयास कर रहा हूँ। यह कार्य बडे धेर्य और सतत् श्रुताभ्यास का हे। यदि मे अल्पज्ञता और प्रमादवश कही चूक गया होऊँ तो सभाल लीजिएगा। कही कुछ छूट गया हो तो जोड लीजिएगा।

मेरा मन था एक छोटा-सा शब्द कोश इस तरह का हो कि उसं व्यक्ति हमेशा अपने साथ रखे और समय पर तत्काल उससे लाभ ले सके। जेनदर्शन के कुछ शब्द इतने 'यूनिक' और 'टेक्नीकल' हे कि उनका अर्थ विशेष अध्ययन के उपरान्त ही स्पष्ट हो पाता हे। सामान्य पाठक कई बार जैनदर्शन का अध्ययन करते समय या धर्मोपदेश आदि सुनते समय शब्दो का अर्थ स्पष्ट न हो पाने के कारण मुश्किल का अनुभव करता

हे। उसे तत्क्षण अर्थबोध हो सके ओर अध्ययन-चितन-मनन मे आसानी हो, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह लघुतम प्रयास किया है।

लगभग पाच-छह वर्प तक निरन्तर चिन्तन-मनन ओर विचार-विमर्श के उपरान्त इस शव्द कोश को प्रस्तुत कर पाया हूँ। इन परिभापाओ को जानने से यदि धर्म को समझने ओर अनुभव करने मे आसानी हो तो इसे पूर्वाचार्यों की कृपा ओर उपकार मानिएगा, मै तो निमित्त मात्र हूँ।

—मुनि क्षमासागर

अ

अकाम-निर्जरा–अपनी इच्छा के विना इन्द्रिय-विषयो का त्याग करने पर तथा परवश होकर भोग-उपभोग का निरोध होने पर उसे शान्ति से सह लेना, इससे जो कर्मो की निर्जरा होती हे उसे अकाम-निर्जरा कहते है।

अकाल-मृत्यु–विषभक्षण आदि किसी वाह्य कारण के मिलने पर समय से पहले ही आयु का क्षीण हो जाना अकाल-मृत्यु हे। इसे कदलीघात-मरण भी कहते हैं।

अकृत्रिम-चैत्यालय–देखिए चैत्यालय।

अक्षमृक्षणवृत्ति–जेसे व्यापारी लोग कीमती सामान से भरी गाडी मे साधारण सा तेल आदि चिकना पदार्थ डालकर उसे आसानी से ले जाते है इसी प्रकार साधु भी रत्नत्रय से युक्त शरीर रूपी गाडी मे सरस या नीरस आहार डालकर उसे आसानी से मोक्षमार्ग पर ले जाते है, इसलिए साधु की यह आहारचर्या अक्षमृक्षणवृत्ति कहलाती हे।

अक्षिप्र अवग्रह–वस्तु को शनै शनै देर से जान पाना अक्षिप्र अवग्रह है।

अक्षीण-महानस ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के द्वारा आहार ग्रहण कर लेने के उपरान्त उस रसोईघर मे बचा शेष आहार अनगिनत लोगो को खिला देने पर भी समाप्त नहीं होता वह अक्षीण-महानस-ऋद्धि कहलाती हे।

अक्षीण-महालय ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के समीप अल्प

स्थान में भी अनगिनत जीव सुखपूर्वक आसानी से बैठ जाते हैं वह अक्षीण-महालय-ऋद्धि कहलाती है।

अगाढ–जिस प्रकार वृद्ध पुरुष की लाठी हाथ में रहते हुए भी कापती रहती है उसी प्रकार क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव सच्चे देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा में स्थित रहते हुए भी सकम्प होता है और किसी विशेष जिनालय या जिनबिंब के प्रति 'यह मेरा है' या 'यह दूसरे का है'–ऐसा विचार करता है वह क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का अगाढ दोष कहलाता है।

अगुप्ति-भय–जिसमें किसी का प्रवेश आसानी से न हो सके ऐसे स्थान में जीव निर्भय होकर रहता है लेकिन जो स्थान खुला हो वहा रहने से जीव को जो भय उत्पन्न होता है उसे अगुप्ति-भय कहते हैं।

अगुरुलघु-गुण–जिस गुण के निमित्त से द्रव्य का द्रव्यपना सदा बना रहे अर्थात् द्रव्य का कोई गुण न तो अन्य गुण रूप हो सके और न कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप हो सके तथा जिसके निमित्त से प्रत्येक द्रव्य में षटगुणी हानि-वृद्धि होती रहे उसे अगुरुलघु-गुण कहते हैं। अगुरुलघु गुण का यह सूक्ष्म परिणमन वचन के अगोचर है और मात्र आगम प्रमाण से जानने योग्य है।

अगुरुलघु-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव न तो लोहपिण्ड के समान भारी होकर नीचे गिरता है और न रुई के समान हल्का होकर ऊपर उडता है वह अगुरुलघु-नामकर्म कहलाता है।

अगृहीत-मिथ्यात्व–जो परोपदेश के बिना मात्र मिथ्यात्व कर्म के उदय से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अश्रद्धान रूप भाव होता है उसे

अगृहीत- मिथ्यात्व कहते है।

अग्निकाय–अग्निकायिक जीव के द्वारा छोडा गया शरीर अग्निकाय कहलाता हे।

अग्निकायिक–अग्नि ही जिसका शरीर हे उसे अग्निकायिक कहते हे।

अग्निचारण ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अग्निशिखा मे स्थित जीवो की विराधना के बिना उन विचित्र अग्निशिखाओ पर से गमन करने मे समर्थ होता है वह अग्निचारण ऋद्धि है।

अग्निजीव–जो जीव अग्निकायिक मे उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति मे जा रहा है उसे अग्निजीव कहते है।

अग्रायणी पूर्व–जिसमे क्रियावाद आदि की प्रक्रिया ओर स्व-समय का विषय विवेचित है वह अग्रायणी नाम का दूसरा पूर्व है।

अघातिया-कर्म–जो जीव के अनुजीवी गुणो का घात नहीं करते, पर वाह्य शरीरादि से सबंधित है वे अघातिया कर्म कहलाते है। आयु, नाम, गोत्र ओर वेदनीय ये चार अघातिया-कर्म हे।

अङ्ग-निमित्तज्ञान–मनुष्य व तिर्यचो के अङ्ग और उपाङ्गो को देख कर या छूकर शुभ-अशुभ और सुख-दुख आदि को जान लेना अङ्ग-निमित्तज्ञान हे।

अङ्ग-प्रविष्ट–श्रुतज्ञान के आचारादि रूप एक-एक अवयव को अङ्ग कहते हें। आचाराङ्ग आदि वारह प्रकार का श्रुतज्ञान अङ्ग-प्रविष्ट कहलाता हे।

अङ्गवाह्य–महान् आचार्यो के द्वारा अल्पबुद्धि, अल्पायु और अल्पबल

वाले शिष्यो के अनुग्रह के लिए आचाराङ्ग आदि वारह अङ्गो के आधार पर रच गये संक्षिप्त ग्रथो को अङ्गवाह्य कहते हे।

अङ्गार-दोप–साधु यदि अत्यन्त आसक्त होकर आहार ग्रहण करे तो यह अङ्गार-दाप कहलाता है।

अङ्गोपाङ्ग नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्ग और उपाङ्गो का भेद होता है उसे अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म कहते हैं। यह तीन प्रकार का है–औदारिक-शरीर-अङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिक-शरीर-अङ्गोपाङ्ग, आहारक-शरीर-अङ्गोपाङ्ग।

अचक्षुदर्शन–चक्षु इन्द्रिय को छोडकर शेप चार इन्द्रियो और मन के द्वारा वस्तु का ज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता हे उसे अचक्षुदर्शन कहते हे।

अचित्त–प्रासुक किए जाने पर जो वस्तु जीव-रहित हो जाती हे उसे अचित्त कहते हे।

अचेलकत्व–वस्त्र आभूषण आदि समस्त परिग्रह का त्याग करके यथाजात नग्न दिगम्वर वालकवत् निविकार रूप धारण करना अचेलकत्व कहलाता हे। यह साधु का एक मूलगुण हे।

अचोर्य–दूसरे की वस्तु को उसकी अनुमति के विना नहीं लेना अचोर्य हे।

अचौर्य-अणुव्रत–1 स्थूल चोरी का त्याग करना अचोर्य या अस्तेय-अणुव्रत कहलाता हे। 2 जन साधारण के उपयोग मे आन वाली मिट्टी, पानो, हवा आदि के अतिरिक्त विना दी हुई दूसरे की

धन-सपत्ति आदि को न स्वय लेना और न ही दूसरे को, देना अचौर्य-अणुव्रत है।

अजितनाथ–द्वितीय तीर्थकर। साकेत नगरी के राजा जितशत्रु और रानी विजयसेना के पुत्र थे। इनकी आयु बहत्तर लाख वर्ष पूर्व थी। शरीर चार सौ पचास धनुष ऊचा और तपाये हुए स्वर्ण के समान कान्ति वाला था। आयु का एक चौथाई भाग वीत जाने पर इन्होने राज्य सभाला और एक पूर्वाग तक राज्य करते रहे। एक दिन कमलवन को खिलते व मुरझाते देख कर विरक्त हो गए और पुत्र को राज्य देकर जिनदीक्षा ले ली। वारह वर्ष की कठिन तपस्या के वाद इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके सघ मे नब्बे गणधर, एक लाख मुनि, तीन लाख वीस हजार आर्यिकाए, तीन लाख श्रावक व पाच लाख श्राविकाए थी। इन्होने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

अजीव-द्रव्य–जो चेतना-रहित हे वह अजीव द्रव्य है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल–ये पाच अजीव-द्रव्य है।

अज्ञात-भाव–अज्ञानता या प्रमाद के कारण विना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात-भाव हैं।

अज्ञान-मिथ्यात्व–हित ओर अहित के विवेक से रहित होना अथवा 'पशुवध धर्म है'–इस प्रकार अहित मे प्रवृत्ति कराने वाला जो उपदेश है वह अज्ञान-मिथ्यात्व है।

अज्ञान-परीषह-जय–अत्यत कठोर तपस्या करने के उपरात भी अवधिज्ञानादि विशेष ज्ञान प्राप्त न होने पर परिणामो मे समता रखना अज्ञान-परीषह-जय कहलाता है।

अढाई-द्वीप—जम्बूद्वीप, धातकी खड द्वीप और आधा पुष्करवर द्वीप—य मिलकर अढाई द्वीप है। मनुष्य का निवास ओर आवागमन इसी अढाई द्वीप म होता है इसलिए इसे मनुष्य-लोक भी कहते है। इसका विस्तार पतालीस लाख योजन है।

अणिमा ऋद्धि—शरीर को अणु के बराबर सूक्ष्म बना लेना अणिमा ऋद्धि है। यह देवो को जन्म से ही प्राप्त होती है। तपोबल से मुनियो को भी प्राप्त होती है।

अणुव्रत—हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पाच पापो का स्थूल रूप से त्याग करना अणुव्रत कहलाता है। अणुव्रत पाच है—अहिसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचोर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह-परिमाणव्रत।

अण्डज—जो नख की त्वचा के समान कठोर हे गोल है ओर जिसका आवरण शुक्र ओर शोणित से बना है उसे अण्ड या अण्डा कहते हे। अण्डे से उत्पन्न होने वाले जीव अण्डज कहलाते हे।

अतदाकार-स्थापना—वास्तविक आकार से रहित किसी भी वस्तु मे 'यह वही हे'—ऐसी स्थापना कर लेना अतदाकार-स्थापना हे। जेसे अनगढ पत्थर आदि म देवी-देवताओ की कल्पना कर लेना।

अतिचार—ग्रहण किए गए व्रतो मे शिथिलता आना या दोष लगना अतिचार या अतिक्रम कहलाता हे।

अतिथि—सयम का पालन करते हुए आहार के लिए आया हुआ साधु अतिथि कहलाता हे अथवा जिसके आने की तिथि निश्चित न हो

ऐसे निस्पृही सयमी साधु को अतिथि कहते है।

अतिथि-संविभाग–अतिथि के लिए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आहार व औषध आदि देना अतिथि-संविभाग नाम का शिक्षाव्रत है।

अतिशय–तीर्थकर के जन्म आदि के समय जो अलौकिक या असाधारण सुखद घटनाए होती है उन्हे अतिशय कहते है।

अतिशय क्षेत्र–जहा तीर्थकरो के पचकल्याणक हुए है अथवा जिस स्थान पर किसी मंदिर या मूर्ति मे कोई असाधारण विशेषता है उसे अतिशय क्षेत्र कहते है जैसे–अतरिक्ष-पार्श्वनाथ, श्रीमहावीरजी, गोम्मटेश्वर-बाहुवली आदि।

अत्र-अवतर-अवतर–यहा आये, पधारें। यह पूजा के समय किया जाने वाला आह्वान है।

अत्राणभय–आत्मरक्षा में समर्थ न होने पर सुरक्षा के अभाव मे जो भय उत्पन्न् होता है वह अत्राणभय कहलाता है।

अदत्त-ग्रहण–श्रावक के द्वारा विना दिया आहारादि यदि साधु ग्रहण कर ले तो यह अदत्त-ग्रहण नाम का अन्तराय है।

अदन्तधोवन–अङ्गुली, नख, दातौन आदि से दातो को घिसने का त्याग करना अदन्तधोवन व्रत कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

अदर्शन-परीषह-जय–दीर्घकाल तक आत्म-साधना करने के उपरात भी ऋद्धि सिद्धि आदि प्रगट न होने पर परिणामो मे समता रखना और मोक्षमार्ग के प्रति अवज्ञा का भाव नहीं लाना अदर्शन-परीषह-जय है।

अधर्म-द्रव्य—जो जीव और पुद्‌गल को ठहरने मे सहायक होता है उसे अधर्म-द्रव्य कहते है। यह द्रव्य समूचे लोक मे व्याप्त है। यह अचेतन और अरूपी है। इसका काय वृक्ष की छाया की तरह हे जो राहगीर को ठहरने मे सहायक है।

अध.कर्म—यदि साधु मन वचन काय से अपने लिए स्वय आहार वनाए, वनवाए या वनाए गए आहार का समर्थन करे और ऐसा आहार ग्रहण कर ले तो यह अध कर्म नाम का दोप है।

अध प्रवृत्तकरण—जहा नीचे के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम ऊपर के समयवर्ती किसी जीव के परिणामो के समान होते है वहा के परिणामो का नाम अध प्रवृत्तकरण हे।

अधिकरण—अधिष्ठान या आधार को अधिकरण कहते हे।

अधिगमज-सम्यग्दर्शन—वाह्य उपदेशपूर्वक जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता हे वह अधिगमज-सम्यग्दशन हे।

अधोलोक—समूचा लोक तीन भागो मे विभक्त हे। लोक का निचला भाग अधोलोक कहलाता हे। इसका आकार वेत्रासन के समान है और विस्तार सात राजू है। अधोलोक मे नीचे-नीचे क्रमश रत्नप्रभा, शर्करा-प्रभा, वालुका-प्रभा, पकप्रभा, धूम-प्रभा, तम -प्रभा और महातम प्रभा—ये सात पृथिविया हे। प्रथम पृथिवी के तीन भाग हे—खर, पक ओर अब्वहुल। खरभाग और पकभाग मे भवनवासी तथा व्यतर देवो के आवास हैं। अब्वहुल भाग से नारकी जीवो के आवास प्रारम्भ होते हे जो विल के रूप मे हे। सातो भूमियो मे कुल चोरासी लाख विल हे। इसके नीचे कलकला नामक पृथिवी हे जहा

मात्र निगोदिया जीव रहते है।

अध्यधिदोष–आहार के लिए साधु को आते देखकर अपनी भोजन-सामग्री मे तुरत अधिक जल और चावलादि मिलाकर फिर पकाना और साधु को देना अध्यधिदोष है।

अध्यात्म–1 समस्त रागादि विकल्पो को छोडकर अपनी निर्मल आत्मा मे आचरण करना अध्यात्म है। 2 जिस ग्रथ मे अभेद रत्नत्रय की मुख्यता से आत्मस्वरूप का व्याख्यान किया जाता है उसे अध्यात्म शास्त्र कहते हैं।

अध्रुव अवग्रह–1 जो यथार्थ ग्रहण निरतर नहीं होता वह अध्रुव-अवग्रह है। अर्थात् जैसा प्रथम समय मे शब्द आदि का ज्ञान हुआ था आगे वैसा ही नहीं रह पाता, कम या अधिक होता है वह अध्रुव-अवग्रह है। 2 विजली, दीपक की लौ आदि अध्रुव या अस्थिर वस्तु का ज्ञान होना अध्रुव-अवग्रह है।

अनगार–अगार का अर्थ गृह या घर है। अत घर-गृहस्थी के ममत्व से रहित निष्परिग्रही साधु को अनगार कहते है।

अनध्यवसाय–गमन करते हुए मनुष्य को जैसे पैरो मे तृण आदि का स्पर्श होने पर स्पष्ट मालूम नहीं पडता कि 'क्या लगा' अथवा जैसे जगल मे दिशा भूल जाते है उसी प्रकार परस्पर सापेक्ष नयो के अनुसार वस्तु को नहीं जान पाना अनध्यवसाय या विमोह कहलाता है।

अनन्त–निरतर व्यय होने पर भी जो राशि कभी समाप्त न हो उसे अनन्त कहते है।

अनन्तकायिक–एक ही साधारण (कॉमन) शरीर मे जो अनन्त जीव निवास करते है उन्हे अनन्तकायिक-जीव कहते है। इन सभी जीवो का जन्म, मरण, आहार ओर श्वासोच्छ्वास आदि सभी क्रियाए एक साथ होती है। मूली, गाजर, अदरक आदि वनस्पतिया अनन्तकायिक होती है। (देखिए निगोद)

अनन्त-चतुष्टय–चार घातिया कर्मो के क्षय होने पर जो अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख ओर अनन्त-वीर्य रूप चार गुण आत्मा मे प्रकट होते है उन्हे अनन्त-चतुष्टय कहते है।

अनन्त-ज्ञान–ज्ञानावरण-कर्म के क्षय होने से जो सकल चराचर को जानने वाला ज्ञान आत्मा मे प्रकट होता हे उसे अनन्त-ज्ञान या केवलज्ञान कहते हे।

अनन्त-दर्शन–दर्शनावरणीय-कर्म के क्षय से जो सकल चराचर का सामान्य प्रतिभास रूप दर्शन गुण आत्मा मे प्रकट होता हे वह अनन्त-दर्शन या केवलदर्शन हे।

अनन्तनाथ–चोदहवे तीर्थकर। इक्ष्वाकु वश मे राजा सिहसेन और रानी जयश्यामा के यहा उत्पन्न हुए। इनकी आयु तीस लाख वर्ष और ऊचाई पचास धनुष थी। समस्त शुभ लक्षणो से युक्त इनका शरीर स्वर्ण के समान आभावान था। राज्य करते हुए पद्रह लाख वर्ष बीत जाने पर उल्कापात देखकर ये वेराग्य को प्राप्त हुए और अपने पुत्र को राज्य देकर गृहत्याग कर दीक्षित हो गये। दो वर्ष की तपस्या के उपरान्त इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके समवसरण मे पचास गणधर, छ्यासठ हजार मुनि, एक लाख आठ हजार आर्यिकाए, दो लाख श्रावक एव

चार लाख श्राविकाए थीं। इन्होने सम्मेद-शिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

अनन्तवीर्य–वीर्यान्तराय कर्म का क्षय हो जाने पर आत्मा मे जो अनन्त सामर्थ्य प्रकट होती है उसे अनन्तवीर्य कहते है।

अनन्त-सुख–मोहनीय कर्म के क्षय से आत्मा मे प्रकट होने वाले अनुपम अतीन्द्रिय-सुख को अनन्तसुख कहते है।

अनन्तानुबंधी-कषाय–जो कषाय अनन्त ससार के कारणभूत मिथ्यात्व को बाधती है वह अनन्तानुबधी कषाय है। इस कषाय के उदय मे सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही होता। यह क्रोध, मान, माया और लोभ–इन चार रूपो मे होती है।

अनर्थदण्डविरति–जीवो के द्वारा मन, वचन, काय से होने वाली ऐसी क्रिया या प्रवृत्ति जो उपकारी न होकर मात्र पाप का अर्जन कराती है अनर्थदण्ड कहलाती है, इसका त्याग कर देना अनर्थदण्डविरति नामक गुणव्रत है। अनर्थदण्ड के पाच भेद है–पापोपदेश, हिसादान, प्रमादचर्या, अपध्यान और दु श्रुति।

अनाकांक्ष-क्रिया–अज्ञानता और आलस के कारण आगम मे कहे गये विधि-विधान का अनादर करना अनाकाक्ष-क्रिया है।

अनाचार–ग्रहण किए गए व्रत या प्रतिज्ञा का भग होना अनाचार है।

अनात्मभूत-लक्षण–जो वस्तु के स्वरूप मे मिला हुआ न हो, उसे अनात्मभूत-लक्षण कहते है। जैसे–टोपी पहने हुए पुरुष का लक्षण टोपी।

अनादि-मिथ्यादृष्टि—जिस जीव ने अनादि काल से अभी तक सम्यग्दर्शन प्राप्त ही नहीं किया उसे अनादि-मिथ्यादृष्टि कहत हे।

अनादेय-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से निष्प्रभ शरीर प्राप्त होता हे वह अनादेय-नामकर्म हे अथवा जिस कर्म के उदय से अच्छा कार्य करने पर भी गोरव प्राप्त न हो वह अनादेय-नामकर्म हे।

अनाभोग-क्रिया—विना शोधन किए ओर विना देखे असावधानी पूर्वक भूमि पर सोना, उठना-वेठना आदि अनाभोग-क्रिया हे।

अनायतन—सम्यग्दर्शन आदि गुणो के आधार या आश्रय को आयतन कहते हे और इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन आदि के आश्रय या आधार को अनायतन कहते हे।

अनाहारक—जिन जीवों के औदारिक आदि शरीर की रचना के योग्य पुद्गल-स्कधो का ग्रहण नहीं होता वह अनाहारक कहलाते हैं। विग्रहगति मे स्थित चारो गति के जीव केवलि समुद्घात की प्रतर ओर लोकपूरण अवस्था मे स्थित सयोग-केवली, अयोग-केवली और सिद्ध भगवान—ये सव अनाहारक होते है।

अनि सृत अवग्रह—वस्तु के किसी एक भाग को देखकर उस वस्तु को पूर्णत जान लेना अनि सृत अवग्रह कहलाता है। जैसे—पानी मे डूबे हाथी की सूड देखकर पूरे हाथी का ज्ञान होना।

अनित्यानुप्रेक्षा—यह शरीर, इन्द्रिया और भोग-उपभोग की समस्त सामग्री क्षणभगुर है पर मोहवश अज्ञानी जीव उसे नित्य या शाश्वत मानकर सुखी-दुखी होता रहता है। इस नश्वर शरीर आदि से ममत्व छोडकर शाश्वत आत्मा का बार-बार चितन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

अनिबद्ध-मंगल–किसी भी ग्रथ के प्रारभ मे ग्रथकार के द्वारा भगवान को नमस्कार तो किया गया हो पर उसे किसी श्लोक आदि के रूप मे लिपिबद्ध न किया गया हो तो यह अनिबद्ध-मगल है।

अनिवृत्तिकरण–जिस विशिष्ट आत्म-परिणाम के द्वारा जीव मिथ्यात्व की ग्रंथि को भेदकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है वह अनिवृत्तिकरण कहलाता है।

अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान–जिस गुणस्थान मे विवक्षित किसी एक समय मे विद्यमान सब जीवो के परिणाम परस्पर समान हो वह अनिवृत्तिकरण नामक नौवा गुणस्थान है।

अनिष्ट (अभक्ष्य)–जिनके सेवन से वात, पित्त, कफ आदि विकार उत्पन्न हो वे पदार्थ अनिष्टकर होने से अभक्ष्य है।

अनिष्टसंयोगज-आर्तध्यान–अप्रिय वस्तु या व्यक्ति के सयोग से निरतर चिन्तित या दुखी रहना अनिष्टसयोगज-आर्तध्यान है।

अनिसृष्ट–गृहस्वामी आहार दान की इच्छा करे और अन्य लोग मना करे तो दिया गया आहार अनिसृष्ट दोष से युक्त है।

अनिस्सरणात्मक-तैजस–जीव के औदारिक शरीर मे रोनक लाने वाला अनिस्सरणात्मक तैजस शरीर है। यह अन्न-पान आदि को पचाने मे सहायक होता है और औदारिक आदि शरीर के भीतर स्थित रहता है।

अनिह्नव–जिस गुरु या शास्त्र से ज्ञान प्राप्त किया है उसका नाम नहीं छिपाना अनिह्नव है।

अनुकम्पा–दूसरे की पीडा से द्रवित हो जाना अनुकम्पा कहलाती है।

अनुक्त–विना कहे अभिप्राय मात्र से वस्तु को जान लेना अनुक्त-अवग्रह है। जैसे–वीणा के तार सभालते समय ही जान लेना कि 'इसके द्वारा यह राग वजाया जायेगा'।

अनुजीवी-गुण–द्रव्य मे विद्यमान भाव रूप गुणो को अनुजीवी गुण कहते हे, जैसे–जीव मे विद्यमान ज्ञान, दर्शन, चेतना आदि गुण और पुद्गल के स्पर्श, रस, रूप आदि गुण।

अनुत्तरोपपादिक-दशाङ्ग–प्रत्येक तीर्थकर के काल मे भीषण उपसर्गो को सहन करके वैमानिक देव के रूप मे अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न होने वाले दश-दश महामुनियो के चरित्र का जिस शास्त्र मे वर्णन किया जाता है उसे अनुत्तरोपपादिक-दशाङ्ग कहते है।

अनुपचरित-असद्भूत व्यवहार–सश्लेष सहित वस्तुओ के सबध को बताने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। यह वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमे पृथक वस्तुओ के बीच होने वाले सश्लेष सबध को दृष्टि मे रखकर कथन किया जाता है जैसे 'यह जीव का शरीर है' या 'यह मेरा शरीर है'।

अनुपचरित-सद्भूत व्यवहार–शुद्ध गुण व शुद्ध गुणी मे भेद का कथन करना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। यह वस्तु को जानने का ऐसा दृष्टिकोण है जिसमे एक ही शुद्ध द्रव्य के आश्रित रहने वाले गुणो को उसी द्रव्य अर्थात् गुणी से भेद करके कथन किया जाता है जैसे 'केवल ज्ञान आदि जीव के गुण है'–ऐसा कहना।

अनुपवास–जल को छोडकर शेष सभी प्रकार के आहार का त्याग करना अनुपवास हे या गृह सबधी कार्य करते हुए जो उपवास किया

जाता है उसे भी अनुपवास कहते है।

अनुपसेव्य–व्यवहार-धर्म को मलिन करने वाली जो वस्तुए सज्जन पुरुषो के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं है वे अनुपसेव्य कहलाती है। जैसे–गाय का मलमूत्र, लार, कफ, जूठन, शख-भस्म आदि।

अनुप्रेक्षा–1 ससार, शरीर और भोग सामग्री के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, वोधिदुर्लभ और धर्म–ये बारह अनुप्रेक्षाए है। यही बारह भावना भी कहलाती है। 2 जाने हुए अर्थ का मन मे अभ्यास करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है।

अनुभय-मन-वचन–सत्य और असत्य दोनो प्रकार के निर्णय से रहित पदार्थ को जानने या कहने मे जीव के मन वचन की प्रयत्न रूप प्रवृत्ति को अनुभय-मन-वचन योग कहते है। जैसे–'यह कुछ है'–ऐसा जानना या कहना।

अनुभाग-बन्ध–कर्म के फल देने की सामर्थ्य को अनुभव या अनुभाग कहते है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मो का जो कषायादि परिणाम जनित शुभ-अशुभ फल है वह अनुभाग बध है। वह जिस कर्म का जैसा नाम है उसके अनुरूप होता है।

अनुमति त्याग-प्रतिमा–परिग्रह त्याग नामक नवमी प्रतिमा धारण करने के उपरात अपने परिवारजनो को या अन्य जनो को सासारिक कार्यो के सबध मे अनुमति अर्थात् सलाह आदि नहीं देने की प्रतिज्ञा करना, यह श्रावक की दसवीं अनुमति-त्याग-प्रतिमा कहलाती है।

तो जीव की शेष आयु का पुन दो तिहाई भाग बीत जाने पर दूसरा अवसर आता है। इस प्रकार भुज्यमान आयु की समाप्ति होने तक नवीन आयु बधने के आठ अवसर होते हैं, यही अपकर्ष कहलाते है।

अपकर्षण–कर्मो की स्थिति और अनुभाग का घट जाना अपकर्षण कहलाता है।

अपध्यान–व्यर्थ ही दूसरे जीवो के प्रति बाधने-मारने रूप खोटे विचार मन मे लाना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है।

अपरिग्रह–अतरग मे ममत्व-भाव का और बाह्य मे धन-पैसा, स्त्री, पुत्र आदि समस्त परिग्रह का त्याग कर देना अपरिग्रह है।

अपरिणत–तिल, चावल आदि के धोने का जल, गर्म होकर ठडा हुआ जल या हरड, लोग आदि चूर्ण से परिणत नही हुआ जल साधु को देना अपरिणत दोष है।

अपर्याप्तक–देखिए पर्याप्तक

अपर्याप्तनाम–जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियो को पूर्ण नहीं कर पाते वह अपर्याप्त नामकर्म है।

अपवाद-मार्ग–यद्यपि मोक्षमार्ग मे समता-भाव की साधना ही प्रमुख है परन्तु शरीर की स्थिति बनाए रखने के लिए साधु को आहार, विहार आदि भी आवश्यक है। अत समता-भाव की साधना मे कठोर आचरण का पालन करना उत्सर्ग-मार्ग कहलाता है। उत्सर्ग-मार्ग मे निवृत्ति प्रमुख है तथा विशेष परिस्थिति मे शरीर की रक्षा के लिए मृदु आचरण करना अपवाद-मार्ग है। यह अपवाद-मार्ग शुद्धोपयोग

रूप उत्सर्ग-मार्ग म सहायक आहार, विहार, पठन-पाठन आदि शुभ-प्रवृत्ति रूप है।

अपाय-विचय—'ससारी जीव मिथ्यामार्ग से केसे वचे'—इस प्रकार निरतर चितन करना अथवा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा वताए गए सन्मार्ग का निरतर चितन करना अपाय-विचय या उपाय-विचय नामक धर्मध्यान हे।

अपूर्वकरण—मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने वाले जीव के अन्तर्मुहूर्त तक प्रति समय जो अत्यत विशुद्ध अपूर्व परिणाम होते हे वह अपूर्वकरण हे।

अपूर्वकरण-गुणस्थान—मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करके जो जीव उपशम या क्षपक श्रेणी चढते हे उस समय जिस गुणस्थान मे सभी जीवो के अपूर्व परिणाम होते हे वह अपूर्वकरण नामक आठवा गुणस्थान हे।

अप्रतिघात-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधुजन पर्वत, शिला, वृक्ष आदि के आरपार गमन करने मे सक्षम होते है वह अप्रतिघात ऋद्धि कहलाती हे।

अप्रतिष्ठित-प्रत्येक—देखिए प्रत्येक वनस्पति।

अप्रत्याख्यान-क्रिया—त्याग करने का भाव नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया हे।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदय मे जीव देशसयम अर्थात् अणुव्रत धारण नहीं कर पाता वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाती

है। यह क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारो रूपो मे रहती है।

अप्रमत्त-संयत—जो साधु व्यक्त और अव्यक्त रूप समस्त प्रकार के प्रमाद से रहित है और रत्नत्रय से युक्त होकर निरतर आत्म-ध्यान मे लीन रहते है वे अप्रमत्त-सयत कहलाते है। अप्रमत्त-सयत के दो भेद है—स्वस्थान-अप्रमत्त और सातिशय-अप्रमत्त। जो साधु उपशम या क्षपक श्रेणी चढने के सम्मुख है वे सातिशय-अप्रमत्त सयत कहलाते है, शेष साधु स्वस्थान-अप्रमत्त-सयत कहलाते है।

अप्रशस्त-निदान—तीव्र अहकार से प्रेरित होकर अपनी तपस्या के फलस्वरूप भविष्य मे उत्तम कुल, जाति, रूप और भोग-उपभोग की कामना करना अप्रशस्त निदान कहलाता है।

अप्रशस्त-निःसरणात्मक-तैजस—बारह योजन लम्बे, नौ योजन चोडे, सूच्युगल के सख्यातवे भाग मोटे, रक्तवर्ण वाले, पृथिवी व पर्वतादि समस्त वस्तुओ को जला कर नष्ट करने मे समर्थ और साधु के बाये कन्धे से प्रगट होकर अभीष्ट स्थान तक फैलने वाले तैजस शरीर को अप्रशस्त- नि सरणात्मक-तैजस कहते है। यह अशुभ तेजस शरीर किसी कारणवश क्रोध के वशीभूत हुए तपस्वी साधु के शरीर से क्रोधाग्नि की तरह निकलता है।

अप्रशस्त-राग—भौतिक सुख-सुविधा की सामग्री के प्रति राग बढाने वाली कथा या बातचीत करने मे मन लगाए रहना अप्रशस्त-राग है।

अप्रथक्-विक्रिया—अपने शरीर को सिह, हिरण, हस, वृक्ष आदि अनेक रूपो मे परिवर्तित करने की सामर्थ्य होना अप्रथक् या एकत्व-विक्रिया कहलाती है। यह सामर्थ्य देव व नारकी जीवो मे जन्म से ही पायी

जाती है तथा मनुष्यो मे तप आदि के फलस्वरूप प्राप्त होती है।

अभक्ष्य—जो वस्तुएँ मनुष्यो के खाने योग्य नही है ऐसी अखाद्य वस्तुओ को अभक्ष्य कहते है। अभक्ष्य वस्तुएँ पाच प्रकार की है—त्रसघात, प्रमादवर्धक, बहुघात, अनिष्ट, अनुपसेव्य।

अभयदान—प्राणीमात्र को करुणा और प्रेम देकर आश्वस्त करना अभयदान कहलाता है।

अभव्य—जो कभी भी संसार के दुखो से छूटकर मोक्ष सुख प्राप्त नहीं कर सकेगे ऐसे जीव अभव्य कहलाते है।

अभाव—जैनदर्शन मे वस्तु का सर्वथा अभाव नही माना गया, भावान्तर स्वभाव रूप ही अभाव माना गया है। जैसे—मिथ्यात्व पयाय के अभाव को सम्यक्त्व पर्याय रूप मे प्रतिभास होता है। अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। किसी द्रव्य की वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय मे अभाव होना प्रागभाव है। आगामी पर्याय मे वर्तमान पर्याय का अभाव होना प्रध्वसाभाव है। एक द्रव्य की एक पर्याय का उसकी दूसरी पर्याय मे अभाव होना अन्योन्याभाव है। एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य का अभाव होना अत्यन्ताभाव कहलाता है।

अभिनन्दन नाथ—चौथे तीर्थकर। इक्ष्वाकुवश मे राजा स्वयवर और रानी सिद्धार्था के यहा उत्पन्न हुए। इनकी आयु पचास लाख वर्ष पूर्व और ऊचाई तीन सो पचास धनुष थी। समस्त शुभ लक्षणो से युक्त इनका शरीर स्वर्ण के समान आभावान था। राज्य करते हुए साढे छत्तीस लाख वर्ष पूर्व काल वीत जाने पर एक दिन अचानक

मेघों का बिखरना देखकर इन्हे वैराग्य हो गया और इन्होने जिनदीक्षा ले ली। अठारह वर्ष की मौन तपस्या के उपरात इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके समवसरण मे एक सो तीन गणधर, तीन लाख मुनि, तीन लाख तीस हजार छ सौ आर्यिकाए, तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्राविकाए थीं। इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

अभिन्नदशपूर्वी–ग्यारह अङ्गों का अध्ययन पूर्ण होने के उपरात विद्यानुवाद नामक दसवें पूर्व को पढते समय महाविद्याओं के पाच सौ और लघु-विद्याओं के सात सो देवता आकर सेवक की तरह उपस्थित हो जाते हैं। उस समय किसी भी प्रलोभन मे न पडकर जो साधु दशवे पूर्व का अध्ययन पूर्ण कर लेते है वे अभिन्नदशपूर्वी कहलाते है।

अभिषेक–जिन-प्रतिमा के स्नपन या प्रक्षालन को अभिषेक कहते है। इसका मूल उद्देश्य अपने आत्म-परिणामो की निर्मलता हे।

अभिहृत–यदि एक पंक्ति मे स्थित तीन या सात घरो को छोडकर अन्य किसी घर से आये हुए अन्नादि को साधु ग्रहण कर लेता है तो यह अभिहृत दोष हे।

अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग–अभीक्ष्ण का अर्थ सदा या निरतर है। जीवादि तत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञान के अभ्यास मे निरतर लगे रहना अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग है। यह सोलह-कारण भावना मे से एक भावना है।

अभोज्य-गृहप्रवेशन–यदि आहार के लिए जाते हुए साधु का चाण्डाल आदि अपवित्र जनो के घर मे प्रवेश हो जाता है तो यह अभोज्य गृहप्रवेशन नामक अन्तराय है।

अमूढ़-दृष्टि—अमूढ़ दृष्टि का अर्थ है यथार्थ दृष्टि। अनेक प्रकार के मत-मतान्तरों में सत्य-असत्य का निर्णय करके मोह रहित यथार्थ-दृष्टि रखना अमूढ़ दृष्टि नामक गुण है। यह सम्यग्दर्शन का एक अंग है।

अमूर्त—जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये चार गुण नहीं पाए जाते उसे अमूर्त या अरूपी कहते हैं। पुद्गल द्रव्य को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अमूर्त या अरूपी हैं।

अमृतस्रावी ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ में रखा गया रूखा सूखा आहार अमृत के समान सरस और गुणकारी हो जाता है अथवा जिसके प्रभाव से साधु के वचन अमृत के समान हितकारी हो जाते हैं उसे अमृतस्रावी ऋद्धि कहते हैं।

अमेध्य—यदि आहार के लिए जाते हुए साधु के पैर अपवित्र मल मूत्र आदि से लिप्त हो जाते हैं तो यह अमेध्य नाम का अन्तराय है।

अयश-कीर्ति—जिस कर्म के उदय से किसी जीव के विद्यमान या अविद्यमान अवगुणों की चर्चा लोक में होने लगती है उसे अयश-कीर्ति-नामकर्म कहते हैं।

अयोग-केवली-जिन—तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली भगवान जब अपने जीवन के अंतिम क्षणों में विशुद्ध ध्यान के द्वारा मन-वचन-काय की समस्त क्रियाओं का निरोध कर देते हैं तब योग से रहित इस अवस्था में वे अयोग-केवली-जिन कहलाते हैं। यह अंतिम चौदहवां गुणस्थान है।

अयोध्या–जम्बूद्वीप मे आर्यखड के कोशल देश की एक नगरी। यह नगरी सरयू नदी के किनारे इन्द्र द्वारा प्रथम तीर्थकर आदिनाथ के पिता नाभिराय और माता मरुदेवी के लिए रची गयी थी। सुकोशल देश मे स्थित होने से इसे सुकोशला और विनीत लोगो की निवासस्थली होन से इसे विनीता भी कहा गया हे। इसके सुयोजित निर्माण कौशल के कारण इसे शत्रु जीत नहीं सकते थे इसलिए इसे अयोध्या कहा गया। सुदर भवनो के निर्माण के कारण इसे साकेत भी कहा जाता था। यह नौ योजन चौडी, बारह योजन लम्बी और अडतालीस योजन विस्तार वाली थी। सभी तीर्थकर सामान्यत अयोध्या मे ही जन्म लेते है परन्तु काल के प्रभाव से वर्तमान चौवीसी मे कुछ तीर्थकरो का जन्म अन्यत्र भी हुआ।

अरति–जिस कर्म के उदय मे देश, काल आदि के प्रति उत्सुकता नहीं होती हे उसे अरति कहते है।

अरति-परीषह-जय–जो साधु विषय-भोग की सामग्री के प्रति उदासीन है, जो गीत, नृत्य वादित्र आदि से रहित अप्रिय लगने वाले शिला गुफा आदि स्थानो मे रहकर भी ध्यान अध्ययन मे लीन हे और देखे, सुने, अनुभव मे आए भोगो का स्मरण आने पर भी समता भाव रखते हे उनक यह अरति-परीषह-जय हे।

अरनाथ–अठारहवे तीर्थकर एव सातवे चक्रवर्ती। सोमवशी राजा सुदर्शन और रानी मित्रसेना के यहा जन्म लिया। इनकी आयु चोरासी हजार वर्ष थी। शरीर तीस धनुष ऊचा और स्वर्ण के समान आभा वाला था। चक्रवर्ती होने के कारण इनके छयानवे हजार रानिया और

विपुल वैभव था। शरद-ऋतु के मेघों का अकस्मात विलय होते देखकर इन्हें वैराग्य हुआ और अपने पुत्र को राज्य देकर इन्होंने जिनदीक्षा ले ली। तीन वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हें केवलज्ञान हुआ। इनके समवसरण में तीस गणधर, पचास हजार मुनि, साठ हजार आर्यिकाएं, एक लाख साठ हजार श्रावक एवं तीन लाख श्राविकाएं थीं। इन्होंने सम्मेद-शिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

अर्थ-पर्याय—जो सूक्ष्म है, शब्दों के द्वारा नहीं कही जा सकती और जो क्षण-क्षण में बदलती है वह अर्थ-पर्याय है। यह प्रत्येक द्रव्य में प्रतिक्षण होती रहती है।

अर्थ-समय—कथन के निमित्त से ज्ञात हुए समस्त पदार्थों के समूह को अर्थ-समय कहते हैं।

अर्थ-सम्यग्दर्शन—आगम को पढे बिना ही उसमे प्रतिपादित अर्थ या भाव को जानकर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे अर्थ-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अर्थाचार—शास्त्र मे कहे गए अनेकात स्वरूप को ठीक-ठीक समझना अर्थाचार या अर्थ शुद्धि है।

अर्थावग्रह—देखिए अवग्रह।

अर्द्धनाराच-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर मे हड्डियो की संधिया परस्पर नाराच अर्थात् कील के द्वारा आधी ही जुडी होती है वह अर्द्ध-नाराच सहनन नामकर्म कहलाता हे।

अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन—देखिए द्रव्य-परिवर्तन

अर्हन्त–जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी है वे अर्हन्त परमेष्ठी कहलाते है। अर्हन्त परमेष्ठी तीन लोक मे पूज्य होते हैं।

अर्हद्-भक्ति–अर्हन्त भगवान के प्रति जो गुणानुराग रूप भक्ति होती हे वह अर्हद्-भक्ति कहलाती है। अथवा अर्हन्त भगवान के द्वारा कहे गए धर्म के अनुरूप आचरण करना अर्हद्-भक्ति कहलाती है। यह सोलह कारण भावना मे एक भावना है।

अलाभ-परीषह-जय–जो साधु कई दिनो तक आहार प्राप्त न होने पर अलाभ की स्थिति मे भी समता-पूर्वक ध्यान-अध्ययन मे लीन रहते हे और अलाभ की स्थिति को कर्मनिर्जरा का कारण मानकर सतोष धारण करते है उनके यह अलाभ-परीषह-जय है।

अलोक–लोकाकाश के बाहर सब ओर जो अनन्त आकाश है उसे अलोक या अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश में एकमात्र आकाश द्रव्य है शेष पाच द्रव्य नहीं है।

अल्पवहुत्व–परस्पर हीनाधिकता को अल्पबहुत्व कहते है। जैसे–'यह इसकी अपेक्षा अल्प है' और 'यह अधिक है' इत्यादि। इसके द्वारा क्षेत्रादि की अपेक्षा भेद को प्राप्त हुए जीव आदि की परस्पर संख्या विशेष को जाना जाता है।

अवगाढ़ सम्यग्दर्शन–द्वादशाग के साथ अङ्ग-बाह्य का अध्ययन करके जो दृढ सम्यग्दर्शन होता है उसे अवगाढ सम्यग्दर्शन कहते है।

अवगाहन–सभी द्रव्यों को अवकाश (स्थान) देना, यह आकाश का अवगाहन गुण है।

अवगाहना—1 जीवों के शरीर की ऊचाई, लम्बाई आदि को अवगाहना कहते हे। 2 आत्मप्रदेश मे व्याप्त करके रहना अवगाहना है। यह दो प्रकार की हे—जघन्य और उत्कृष्ट। जेसे—कर्मभूमि के मनुष्य की जघन्य अवगाहना 3½ हाथ और उत्कृष्ट 525 धनुष।

अवग्रह—इन्द्रिय और पदार्थ का सबध होने पर जो पदार्थ का प्रथम ग्रहण या ज्ञान होता है वह अवग्रह कहलाता हे। जैसे—आख के द्वारा 'यह सफेद हे' ऐसा ज्ञान होना। अवग्रह दो प्रकार का हे—व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यक्त ग्रहण से पहले-पहले व्यजनावग्रह होता हे और व्यक्त ग्रहण का नाम अर्थावग्रह है। जैसे—माटी का नया घडा जल की दो तीन बूदे सींचने पर गीला नहीं होता और पुन पुन सींचने पर धीरे धीरे गीला हो जाता हे इसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किए गए शब्द आदि पहले व्यक्त नहीं होते किन्तु पुन पुन ग्रहण होने पर व्यक्त हो जाते है। व्यजनावग्रह इन्द्रियो के ग्रहण करने के योग्य क्षेत्र मे पदार्थ के स्थित होने पर ही होता है अत चक्षु ओर मन से नहीं होता, शेष चारो इन्द्रियो से होता है। अर्थावग्रह पाचो इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है।

अवधिज्ञान—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की सीमा मे रहकर मात्र रूपी पदार्थो को प्रत्यक्ष जानता हे वह अवधिज्ञान हे। अवधिज्ञान के तीन भेद हे—देशावधि, सर्वावधि और परमावधि। देशावधि के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित—ऐसे छह भेद हे। देशावधि-ज्ञान भव-प्रत्यय और गुण-प्रत्यय दोनो प्रकार का होता है। सर्वावधि और परमावधि यह दोनो गुण-प्रत्यय है।

अवधिदर्शन—अवधिज्ञान से पहले जो रूपी पदार्थो का सामान्य

प्रतिभास होता है उसे अवधिदर्शन कहते है।

अवमौदर्य–जो जिसका स्वाभाविक आहार है उससे कम आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना अवमौदर्य-तप है।

अवर्णवाद–गुणवान बडे पुरुषो मे जो दोष नहीं है उन मिथ्या दोषो को उनमे दिखाना अवर्णवाद कहलाता है। केवली, श्रुत, सघ, धर्म और देवो का अवर्णवाद–यह पांच प्रकार का अवर्णवाद हे।

अवसन्न–जैसे कीचड मे फसे हुए और मार्गभ्रष्ट पथिक को अवसन्न कहते है वैसे ही ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट मुनि को अवसन्न कहते हैं।

अवसर्पिणी–जिस काल मे जीवो की आयु, वल ओर ऊचाई आदि क्रम-क्रम से घटते जाते है उसे अवसर्पिणी काल कहते है। इसके सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा–ऐसे छह भेद है। इन्हे पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाचवे और छठे काल के नाम से भी जाना जाता हे।

अवाय–विशेष निर्णय द्वारा वस्तु का जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हे। जैसे–पखो के उठने गिरने आदि को देखकर 'यह वगुलो की पक्ति है ध्वजा नहीं है'–ऐसा निर्णय करना।

अविनेय–जिसमे सच्चे धर्म को सुनने व ग्रहण करने का गुण नहीं है वह अविनेय है।

अविपाक-निर्जरा–जिस प्रकार आम, केला आदि को अधिक उष्मा देकर समय से पहले पका लिया जाता है उसी प्रकार कर्म को तप आदि के द्वारा समय से पहले अनुभव मे ले लिया जाता है यह अविपाक

निर्जरा है। अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टि व्रती के ही होती है।

अविभाग-प्रतिच्छेद—शक्ति अश को अविभाग-प्रतिच्छेद कहते है। यह जड व चेतन सभी द्रव्यो मे देखे जाते हैं। जैसे—सबसे कम अनुभाग से युक्त परमाणु के किसी एक गुण को बुद्धि के द्वारा ग्रहण करके तब तक छेद दिया जाए जब तक कि उससे आगे और विभाग न हो सके, इस विभाग-रहित अश को अविभागी-प्रतिच्छेद कहते है।

अविरत-सम्यग्दृष्टि—जो व्रत आदि से रहित है किन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा रखता है वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव अविरत-सम्यग्दृष्टि है।

अविरति—व्रतो को धारण न करना अविरत है। या अव्रत रूप विकारी परिणाम का नाम अविरति है। पाच स्थावर और त्रस इन छह प्रकार के जीवो की दया न करने से और पाच इन्द्रिय व मन के विषयो से विरक्त न होने से अविरति बारह प्रकार की है।

अशरणानुप्रेक्षा—मत्र, तत्र, औषध आदि कोई भी मरण के समय प्राणी की रक्षा नहीं कर सकते, अमर कहे जाने वाले स्वर्ग के देव भी आयु समाप्त होने पर मरण को प्राप्त होते हैं। इस ससार मे जन्म और मरण के दुखो से यदि कोई वचा सकता हे तो वह एक मात्र वीतराग-धर्म है, धर्म की शरण ही श्रेष्ठ है, शेष कोई शरण नहीं है, इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अशरण-अनुप्रेक्षा हे।

अशुचित्व-अनुप्रेक्षा—यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है, स्नान और अन्य सुगंधित पदार्थो से भी इसकी अशुचिता अर्थात् मलिनता को दूर कर पाना सभव नहीं है किन्तु यदि जीव चाहे तो रत्नत्रय की भावना के

द्वारा शरीर से भिन्न अपनी आत्मा की शुचिता को प्रगट कर सकता है, इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अशुचित्व-अनुप्रेक्षा है।

अशुभ तैजस–देखिए अप्रशस्त नि सरणात्मक तैजस।

अशुभ-नामकर्म–देखिए शुभ नामकर्म।

अशुभोपयोग–जिसका उपयोग विषय-कषाय मे मग्न है, कुश्रुति, कुविचार और कुसगति मे लगा हुआ है, उग्र है और उन्मार्गगामी है उसके यह अशुभोपयोग है।

अश्रुपात–आहार के समय पीडावश साधु के आसु आ जाने पर या किसी कारण से दाता के आसु आने पर अश्रुपात नामक अन्तराय होता है।

अष्ट-द्रव्य–उत्तम जल, चन्दन, अखण्डित चावल, सुगंधित पुष्प, नैवेद्य, सुगंधित धूप, दीप और फल–ये पूजा के अष्टद्रव्य कहलाते है।

अष्टम-पृथिवी–लोक के शिखर पर एक राजु चौडी, सात राजु लम्बी और आठ योजन ऊची अष्टम पृथिवी है। इसके मध्य मे अत्यत उज्ज्वल छत्र के समान ईषतप्राग्भार नाम का क्षेत्र है जिसका विस्तार मनुष्य लोक के बराबर है। यह सिद्धो का आवास स्थान हे और अष्टम-पृथिवी से 7050 धनुष ऊपर स्थित है।

अष्ट-मगल-द्रव्य–छत्र, चमर, ध्वजा, झारी, कलश, ठौना, दर्पण ओर वीजना–ये आठ मागलिक द्रव्य हे जिनसे पाण्डुकशिला और समवसरण के गोपुर शोभित होते रहते हे।

अष्टमूलगुण–1 मद्य, मधु और मास का त्याग करना और पाच अणुव्रतो का पालन करना–ये श्रावक के अष्टमूलगुण है। 2 मद्य, मधु, मास और पाच उदुम्बर फलो का त्याग करना यह श्रावक के अष्टमूलगुण है। 3 मद्य, मधु, मास का त्याग, रात्रि-भोजन व उदुम्बर फलो का त्याग तथा देवदर्शन, जीव-दया ओर जलगालन–ये आठ श्रावक के मूलगुण माने गये है।

अष्टाङ्ग-निमित्तज्ञान–देखिए निमित्तज्ञान।

अष्टापद–यह कैलाश पर्वत का दूसरा नाम है। यह भगवान ऋषभदेव की निर्वाणभूमि है। इस पर्वत पर सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रो ने स्वर्णमय जिनालय बनाने के लिए दण्डरत्न से आठ पादस्थान बनाकर इसकी भूमि खोदना प्रारभ किया था इसलिए इसका नाम अष्टापद प्रसिद्ध हुआ।

अष्टाह्निक-पूजा–देवो के द्वारा नन्दीश्वर-द्वीप मे प्रत्येक वर्ष आषाढ, कार्तिक ओर फाल्गुन मास मे अष्टमी से लेकर पूर्णिमा तक आठ दिन निरतर भक्तिपूर्वक जो जिनेन्द्र प्रतिमाओ की पूजा की जाती है, उसे अष्टाह्निक-पूजा कहते है।

असत्य-मन-वचन–असत्य पदार्थ जैसे मरीचिका का जल आदि के विषय मे जानने या कहने मे जीव के मन और वचन की प्रयत्न रूप प्रवृत्ति को असत्य-मन-वचन योग कहते हैं।

असद्भूत-व्यवहार-नय–भिन्न वस्तुओ के बीच सबध को बताने वाला असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे–कर्म के निमित्त से होने वाली मनुष्यादि पर्याये, रागादि विकारी भाव और बाह्य वस्तुओ से सबध

का कथन करना असद्भूत व्यवहार नय का विषय है। इसके दो भेद है—अनुपचरित असद्भूत और उपचरित असद्भूत।

असंख्यात—गणनातीत राशि असख्यात कहलाती है।

असंज्ञी—बिना मन वाले जीव असज्ञी कहलाते है। ये शिक्षा, उपदेश आदि ग्रहण करने मे असमर्थ होते है। असज्ञी, असैनी और अमनस्क ये एकार्थवाची है।

असंप्राप्तासृपाटिका-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर मे हड्डिया परस्पर मात्र नसो के द्वारा जुडी रहती है वह असप्राप्तासृपाटिका-सहनन नामकर्म कहलाता है।

असातावेदनीय—जिस कर्म के उदय मे जीव अनेक प्रकार के दु ख का वेदन करता है उसे असातावेदनीय-कर्म कहते है।

अस्तिकाय—जो बहुप्रदेशी है वे अस्तिकाय कहलाते है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—ये पाच अस्तिकाय है।

अस्तित्व—प्रत्येक द्रव्य की अनादि-अनन्त सत्ता ही उसका अस्तित्व गुण है। यह द्रव्य का सामान्य गुण है।

अस्तिनास्ति-प्रवाद-पूर्व—जिसमे पाच अस्तिकायो का और विविध नयो का अस्ति, नास्ति आदि अनेक पर्यायो के द्वारा वर्णन किया गया है वह अस्ति-नास्ति-प्रवाद-पूर्व नाम का चौथा पूर्व है।

अस्थिर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से थोडी भी भूख-प्यास की बाधा होने पर तथा सर्दी या गर्मी की अधिकता होने पर शरीर मे दुर्बलता का अनुभव होता है उसे अस्थिर-नामकर्म कहते है।

अस्नान-व्रत–जीवन भर स्नान न करने की प्रतिज्ञा लेना अस्नान-व्रत है। यह साधु का एक मूलगुण है।

अहिंसा–मन, वचन, काय से किसी भी जीव को नहीं मारना अहिसा है।

अहिंसाणुव्रत–स्थूल या सकल्पी हिंसा का त्याग करना अहिसाणुव्रत है।

आ

आकस्मिक-भय—अचानक आ जाने वाली विपत्ति की आशका से जीवो को जो भय उत्पन्न होता है वह आकस्मिक-भय है।

आकाश द्रव्य—जो समस्त द्रव्यो को अवकाश अर्थात् स्थान देता है उसे आकाश द्रव्य कहते है। इसके दो भेद है—लोकाकाश और अलोकाकाश।

आकाशगता-चूलिका—आकाश मे गमन करने की विद्या एव जप तप आदि का वर्णन करने वाली चूलिका को आकाशगता चूलिका कहते है।

आकाशगामित्व ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु सुखासन से बैठे-बैठे या खडे रहकर बिना डग भरे आकाश मे गमन कर सकते हैं उसे आकाशगामित्व या आकाशगामिनी-ऋद्धि कहते है।

आकाश-चारण ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु, जीवो को बाधा न पहुचे इस तरह चलते हुए भूमि से चार अङ्गुल ऊपर आकाश मे गमन कर सकते है उसे आकाश-चारण ऋद्धि कहते हैं।

आकिञ्चन्य धर्म—समस्त परिग्रह का त्याग करके 'कुछ भी मेरा नहीं है'—इस प्रकार का निर्लोभ भाव रखना आकिञ्चन्य धर्म है।

आक्रोश-परीषह-जय—क्रोध बढाने वाले, अत्यत अपमानजनक, कर्कश और निन्द्यनीय वचनो को सुन कर जो साधु विचलित नहीं होते और सामर्थ्यवान होकर भी उसे शान्त-भाव से सहन करते है

उनके यह आक्रोश-परीषह-जय है।

आक्षेपिणी कथा—जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गए तत्त्वो का कथन करने वाली आक्षेपिणी कथा है।

आगम—जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गए हितकारी वचन ही आगम है। आगम, सिद्धान्त और प्रवचन—ये एकार्थवाची है।

आग्नेयी-धारणा—पार्थिवी-धारणा के उपरात योगी निश्चल अभ्यास से अपने नाभि-मडल मे सोलह पत्तो से युक्त कमल का ध्यान करे फिर उस कमल की कर्णिका मे महामत्र र्ह का तथा सोलह पत्तो पर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अ अ —इन सोलह अक्षरो का ध्यान करे, फिर महामत्र र्ह की रेफ से मद-मद निकलती धुए की शिखा का विचार करे, फिर निकलती हुई चिनगारियो और अग्नि की लपटो का चिन्तवन करे। फिर योगी मुनि अपने हृदय मे स्थित आठ पत्तो के कमल पर लिखे आठ कर्मो को उस अग्नि की ज्वाला मे निरतर जलता हुआ चितन करे। उस कमल के जलने के उपरात शरीर के बाह्य मे चारो ओर त्रिकोण अग्नि का चिन्तवन करे। यह बाहर का अग्निमडल अतरग की मत्राग्नि को जलाता है और उस नाभिकमल और शरीर को नष्ट करके धीरे-धीरे शात हो जाता है। ऐसा चिन्तवन करना आग्नेयी धारणा है।

आचाम्ल—काजी या माड सहित केवल भात के आहार को आचाम्ल कहते है।

आचाराङ्ग—जिसमे पाच समिति, तीन गुप्ति आदि रूप मुनिचर्या का वर्णन किया गया है वह आचाराङ्ग है।

आचार्य–1 जो स्वय साधु के योग्य आचरण करते है और अन्य साधुओं से भी यथायोग्य आचरण कराते है वे आचार्य है। 2 साधुओ को शिक्षा-दीक्षा देने वाले, उनके दोषो का निवारण करने वाले तथा अनेक विशिष्ट गुणो से युक्त सघनायक साधु को आचार्य कहते है।

आचार्य-भक्ति–आचार्यो के प्रति जो गुणानुराग रूप भक्ति होती है उसे आचार्य-भक्ति कहते है। यह सोलह कारण भावना मे एक भावना है।

अच्छेद्य-दोष–राजा, मत्री आदि का भय दिखाकर यदि साधु आहार प्राप्त करे तो यह अच्छेद्य नाम का दोष है।

आजीव दोष–अपनी जाति, कुल आदि की विशेषता बताकर यदि साधु आहार प्राप्त करे तो यह आजीव नाम का दोष है।

आज्ञाविचय–'जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित आगम ही सत्य हे'–ऐसा चिन्तन करना अथवा जिनवाणी को प्रमाण मानकर सात तत्त्व, छह द्रव्य, पाच अस्तिकाय आदि के स्वरूप का विचार करना आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान है।

आज्ञा-व्यापादिकी-क्रिया–शास्त्रोक्त आज्ञा का पालन न कर सकने के कारण उसका अन्यथा प्ररूपण करना आज्ञा-व्यापादिकी-क्रिया है।

आज्ञा-सम्यग्दर्शन–जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को प्रधान मानकर जो सम्यग्दर्शन होता हे उसे आज्ञा-सम्यग्दर्शन कहते है।

आतप–जो सूर्य आदि के निमित्त से उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हे।

आतप-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर मे आतप उत्पन्न होता है वह आतप नामकर्म है। सूर्य के विमान आदि मे तथा सूर्यकान्त मणि आदि पृथिवीकाय मे आतप जानना चाहिए। अग्नि मूलत उष्ण होती है परतु आतप-नामकर्म के उदय से सूर्य के बिब आदि मूलत शीतल होते है मात्र किरणे उष्ण होती हैं।

आत्म-प्रवाद–जिसमे आत्म द्रव्य का और छह प्रकार के जीव समूहो का अस्ति-नास्ति आदि विभिन्न प्रकार से निरूपण किया गया है वह आत्म-प्रवाद पूर्व नाम का आठवा पूर्व है।

आत्मभूत लक्षण–जो वस्तु के स्वरूप मे निहित हो अर्थात् उससे पृथक न किया जा सके उसे आत्मभूत-लक्षण कहते हैं। जैसे–अग्नि में उष्णता या जीव मे चेतना।

आत्मा–जो यथासभव ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुणो मे वर्तता या परिणमन करता है वह आत्मा है। आत्मा की तीन अवस्थाए है–बहिरात्मा, अतरात्मा और परमात्मा।

आदान-निक्षेपण-समिति–पुस्तक, पीछी, कमण्डलु आदि उपकरण जो ज्ञान व सयम मे सहायक है उन्हे देखभालकर और शोधन करके रखना तथा उठाना आदान-निक्षेपण समिति है। यह साधु का एक मूलगुण है।

आदिनाथ–युग के प्रारभ मे हुए प्रथम तीर्थकर। ये कुलकर नाभिराय और उनकी रानी मरुदेवी के पुत्र थे। अयोध्या इनकी जन्मभूमि और राजधानी थी। इनका शरीर स्वर्ण की तरह आभावान और पाच सौ धनुष ऊचा था। चक्रवर्ती भरत और कामदेव बाहुबली इनके पुत्र

थे। ब्राह्मी और सुदरी इनकी बेटिया थीं। कर्मभूमि के प्रारभ मे प्रजा को अहिसा-प्रधान जीवन-पद्धति सिखलाने के अभिप्राय से इन्होने असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षट्कर्मो का उपदेश दिया। इनकी आयु चौरासी लाख वर्ष पूर्व थी। बीस लाख वर्ष पूर्व का समय कुमार अवस्था मे व्यतीत करके तिरेसठ लाख वर्ष पूर्व काल तक राज्य किया और एक दिन स्वर्ग की देवी नीलाजना का राजदरवार में नृत्य करते-करते अकस्मात् मरण होता देखकर ससार से विरक्त हो गए। जिनदीक्षा लेकर छ माह तक ध्यानस्थ रहे फिर छ माह तक साधु के योग्य आहार-विधि जानने वालो का अभाव होने से आहार का योग नहीं लगा, इस तरह एक वर्ष तक निराहार रहने के उपरात राजा श्रेयास के यहा प्रथम आहार हुआ। एक हजार वर्ष की कठिन तपस्या के उपरात केवलज्ञान प्राप्त हुआ और समवसरण मे सभी जीवो का कल्याण करने वाली दिव्य-ध्वनि खिरने लगी। आपके चतुर्विध सघ मे चौरासी गणधर, वीस हजार केवलज्ञानी, बीस हजार छ सौ विक्रिया-ऋद्धिधारी, इतने ही विपुलमति मन पर्यय ज्ञानी और अन्य मुनि थे, पचास हजार आर्यिकाए, तीन लाख श्रावक ओर पाच लाख श्राविकाए थीं। आपने कैलाश पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया।

आदेय-नामकर्म–1 जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर प्रभायुक्त होता है उसे आदेय-नामकर्म कहते है। 2. जिस कर्म के उदय से जीव के वहुमान्यता उत्पन्न होती हे वह आदेय नामकर्म कहलाता है।

आधिकरणिकी क्रिया–हिसा के साधनो या उपकरणो को ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया हे।

आनुपूर्वी-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से एक गति से दूसरी गति मे जाते हुए जीव के पूर्व शरीर का आकार नष्ट नहीं होता है वह आनुपूर्वी नामकर्म हे। आनुपूर्वी नामकर्म के उदय से ही जीव का अपनी इच्छित गति मे गमन होता हे। यह चार प्रकार का हे– नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी ओर देवगत्यानुपूर्वी।

आप्त–वीतराग, सर्वज्ञ ओर हितोपदेशी अर्हन्त-भगवान आप्त कहलाते हे।

आवाधा–कर्म का वन्ध होने के पश्चात् वह तुरत ही उदय मे नहीं आता वल्कि कुछ समय वाद परिपक्व होकर उदय मे आता हे। अत जीव के साथ वधे हुए कर्म जितने काल तक उदय या उदीरणा के योग्य नहीं होते उस काल को अवाधा कहते हें। आयु कर्म को छोडकर शेष सात कर्मो की एक कोडाकोडा सागर की स्थिति होने पर आवाधा सौ वर्ष की होती हे।

आभ्यन्तर-तप–जिससे मन का नियमन हो वह आभ्यन्तर-तप हे। प्रायश्चित्त, विनय, वेयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग–ये छह आभ्यन्तर-तप हे।

आमर्ष-औषधि-ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के स्पर्श मात्र से जीव निरोगी हो जाते है उसे आमर्ष-ओषधि-ऋद्धि कहते हे।

आम्नाय–उच्चारण की शुद्धिपूर्वक पाठ को पुन पुन दुहराना आम्नाय नाम का स्वाध्याय हे।

आयतन–सम्यग्दर्शन आदि गुणो के आधार या आश्रय को आयतन कहते हे। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु ओर इन तीनो के उपासक–ऐसे

छह आयतन है।

आयु-कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य आदि भव धारण करता है उसे आयु-कर्म कहते है। नरकायु, तिर्यचायु, देवायु और मनुष्यायु—ये चार भेद आयुकर्म के है।

आरम्भ—1 जीवो को पीडा पहुचाने वाली प्रवृत्ति करना आरभ है। 2 कार्य करने लगना सो आरभ है।

आरम्भ-त्याग-प्रतिमा—सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने के उपरात जीवन पर्यन्त नौकरी, खेती, व्यापारादि आरभ नहीं करने की प्रतिज्ञा लेना, यह श्रावक की आरम्भ-त्याग नामक आठवीं प्रतिमा है।

आरम्भी-हिंसा—गृहस्थी सवधी कार्य करने मे जो हिसा होती है उसे आरम्भी-हिसा कहते है।

आराधना—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारो का यथायोग्य रीति से उद्योतन करना, इन्हे दृढतापूर्वक धारण करना, इनके मद पड जाने पर पुन पुन जागृत करना और इनका जीवन भर पालन करना आराधना कहलाती है।

आर्जव-धर्म—1 कुटिल भाव को छोडकर सरल हृदय से आचरण करना आर्जव-धर्म कहलाता है। 2 मन, वचन और काय की ऋजुता अर्थात् सरलता का नाम आर्जव हे।

आर्तध्यान—इष्ट वियोग आदि के निमित्त से निरतर पीडा या दुख रूप परिणाम होना आर्तध्यान है। यह चार प्रकार का है—इष्टवियोगज, अनिष्ट सयोगज, वेदना ओर निदान।

के जिस परिणाम या भाव से सूक्ष्म पुद्गल परमाणु कर्म रूप होकर आत्मा मे आते है उस परिणाम या भाव को भावास्रव कहते हे और सूक्ष्म कर्म रूप पुद्गलो का आना द्रव्यास्रव कहलाता हे। साम्परायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव ऐसे दो भेद भी आस्रव के है।

आस्रव-अनुप्रेक्षा—आत्मा मे निरतर होने वाला कर्मो का आस्रव ससार को बढाने वाला और दुख रूप हे तथा इन्द्रिय, कषाय और असयम रूप होने से अहितकर है। इस प्रकार आस्रव के दोषो का बार-बार चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

आहार-दान—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रासुक अन्न आदि आहार सुपात्र को देना आहार-दान कहलाता है।

आहारक—जो जीव औदारिक आदि तीन शरीरो मे से उदय को प्राप्त किसी एक शरीर के योग्य पुद्गलो का ग्रहण करता हे वह आहारक कहलाता है।

आहारक-शरीर—छठवे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त सयत साधु सूक्ष्म तत्त्व के विषय मे जिज्ञासा होने पर जिस शरीर के द्वारा केवली भगवान के पास जाकर जिज्ञासा का समाधान करते हें उसे आहारक-शरीर कहते है।

आहारक-समुद्घात—सूक्ष्म तत्त्व के विषय मे जिसे कुछ जिज्ञासा उत्पन्न हुई हे उन परम ऋषि के मस्तक मे से मूल शरीर से सपर्क बनाए रखकर एक हाथ ऊचा सफेद रग का सर्वाग सुदर पुतला निकलकर अतर्मुहूर्त मे जहा कहीं भी केवली भगवान को देखता हे वहा जाकर उनके दर्शन मात्र से ऋषि की जिज्ञासा का समाधान पाकर

पुन अपने स्थान मे लौट आता है इसे आहारक- समुद्घात कहते है।

आहार-सज्ञा–अन्नादि आहार ग्रहण करने की इच्छा होना आहार-सज्ञा है।

आह्वानन–आमत्रण। भावो की एकाग्रता के लिए पूजा के प्रारंभ मे जिनेन्द्र भगवान को हृदय मे आमंत्रित करते है, उसी के प्रतीक रूप पुष्पक्षेपण करना आह्वानन कहलाता है।

इ

इङ्गिनी-मरण—शास्त्र में कही गई विधि के अनुरूप क्रमश आहार का त्याग करके स्वाश्रित रहकर दूसरे के द्वारा वैयावृत्ति आदि नहीं कराते हुए जो समाधि ली जाती है वह इङ्गिनी-मरण नामक सल्लेखना है। इस प्रकार की सल्लेखना लेने वाले साधु उत्तम संहनन के धारी होते हे।

इच्छाकार—ऐलक, क्षुल्लक आदि उत्कृष्ट श्रावक व श्राविका के प्रति आदर प्रकट करना इच्छाकार कहलाता है।

इतर-निगोद—जिन्होंने त्रस पर्याय पहले कभी पायी है फिर पुन निगोद मे उत्पन्न हुए है, ऐसे जीव चतुर्गति निगोद या इतर-निगोद कहलाते है।

प्रात काल भगवान महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन सध्याकाल इन्हे केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान होने के बारह वर्ष बाद इन्हे मोक्ष प्राप्त हुआ।

इन्द्रिय–जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने मे सहायक है उसे इन्द्रिय कहते है। शरीरधारी जीवो को ज्ञान के साधन रूप स्पर्शन आदि पाच इन्द्रिया कही गयी है। इन्द्रिया अपने-अपने निश्चित विषय को ही जान पाती है, जैसे–आख मात्र रूप को जानती है वह रस को नहीं जान पाती। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रिया है। ये पाचो इन्द्रिया द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय दोनो रूप मे होती है।

इन्द्रिय-जय–पाचो इन्द्रियो को ज्ञान, वेराग्य और उपवास आदि के द्वारा वश मे रखना इन्द्रिय-जय कहलाता हे। यह पाचो इन्द्रियो के भेद से पाच प्रकार का है। यह साधु का मूलगुण हे।

इन्द्रिय-सयम–देखिए सयम।

इन्द्रिय-सुख–साता वेदनीय आदि पुण्य कर्म के उदय से जो इन्द्रिय जनित सुख प्राप्त होता हे उसे इन्द्रिय-सुख कहते है।

इष्ट-वियोगज-आर्तध्यान–स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तु या व्यक्ति का वियोग होने पर उनके लिए निरतर चिन्तित या दुखी होना इष्ट-वियोगज नाम का आर्तध्यान कहलाता है।

इहलोकभय–'इस भव मे लोग न मालूम मेरा क्या बिगाड करेगे'–ऐसा भय बना रहना इहलोक भय है।

ई

ईर्यापथक्रिया—ईर्या का अर्थ गति या गमन हे अत ईर्यापथ की कारणभूत क्रिया ईर्यापथ-क्रिया हे।

ईर्यापथ-आस्रव—उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोग-केवली भगवान के कषाय का अभाव हो जाने से मात्र योग के द्वारा आए हुए कर्म सूखी दीवार पर पडी धूल के समान तुरन्त झड जाते हे बधते नहीं है यह ईर्यापथ-आस्रव कहलाता है।

ईर्या-समिति—प्राणियो को पीडा न होवे ऐसा विचार कर जो प्रासुक मार्ग से दिन मे चार हाथ आगे देखकर सावधानी पूर्वक अपने कार्य के लिए साधु का आना-जाना होता है वह ईर्या-समिति हे। यह साधु का एक मूलगुण है।

ईर्ष्या—दूसरो के उत्कर्ष (वढती) को न सह सकना ईर्ष्या हे।

ईशित्व ऋद्धि—जिससे साधु को सारे जगत पर प्रभुत्व करने की शक्ति प्राप्त हो वह ईशित्व-ऋद्धि हे।

ईश्वर—केवलज्ञान आदि रूप ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले अर्हन्त ओर सिद्ध परमात्मा ईश्वर कहलाते हे।

ईहा-मतिज्ञान—अवग्रह के द्वारा जाने गये पदार्थ के विषय मे विशेप जानने की इच्छा या जिज्ञासा को ईहा कहते हे। जेसे—यह सफेद हे, तो क्या हे॰ वगुला है या ध्वजा हे।

उ

उक्तावग्रह--दूसरे के द्वारा कहे जाने पर वस्तु को जानना उक्तावग्रह हे। जैसे 'यह घडा है'--ऐसा कहने पर घडे को जानना।

उग्रतप--जो साधु दीक्षा के दिन एक उपवास करके पारणा करता है फिर जीवन पर्यत एक उपवास और पारणा रूप तप करता है अथवा जो साधु एक उपवास के बाद पारणा करके दो उपवास करता है फिर पारणा करके तीन उपवास करता है इस प्रकार एक अधिक वृद्धि के साथ जीवन पर्यत उपवास करता है वह उग्रतप या उग्रोग्रतप ऋद्धि का धारी है।

उच्चगोत्र कर्म--जिस कर्म के उदय से जीव का लोक पूजित कुलो मे जन्म होता है वह उच्चगोत्र कर्म हे। गोत्र, कुल, वश और सन्तान--ये सव एकार्थवाची है।

उच्चार--आहार करते समय साधु के उदर से किसी रोग के कारण उच्चार अर्थात् मल निकल आने पर उच्चार नाम का अन्तराय होता है।

उच्छ्वास-नामकर्म--सास लेने को उच्छ्वास और सास छोडने को नि श्वास कहते है। जिस कर्म के निमित्त से जीव उच्छ्वास और नि श्वास रूप क्रिया करने मे समर्थ होता है उसे उच्छ्वास-नामकर्म कहते हे।

उत्कर्षण--कर्मो की स्थिति ओर अनुभाग मे वृद्धि होना उत्कर्षण कहलाता है।

उत्तमार्थ-प्रतिक्रमण—समाधिमरण लेते समय जीवन भर हुए दोषो का स्मरण करके गुरु के सम्मुख आलोचना पूर्वक जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह उत्तमार्थ-प्रतिक्रमण कहलाता है।

उत्तर-कुरु—यह विदेह क्षेत्र मे स्थित शाश्वत उत्तम-भोग भूमि हे। इसके उत्तर दिशा मे नील पर्वत, दक्षिण मे सुमेरु, पूर्व मे माल्यवान और पश्चिम मे गन्धमादन गजदत पर्वत स्थित है।

उत्तराध्ययन—जिसमे अनेक प्रकार के उत्तरो का वर्णन हे जैसे—चार प्रकार के उपसर्ग कैसे सहन करना चाहिए? बाईस प्रकार के परीषह सहन करने की विधि क्या है? इत्यादि प्रश्नो के उत्तर का वर्णन किया गया है वह उत्तराध्ययन है।

उत्पाद—द्रव्य का अपनी पूर्व अवस्था को छोडकर नवीन अवस्था को प्राप्त करना उत्पाद कहलाता हे।

उत्पाद-पूर्व—जीव, पुद्‌गल आदि का जहा जब जैसा उत्पाद होता हे उस सबका वर्णन जिसमे हो वह उत्पाद-पूर्व नाम का पहला पूर्व हे।

उत्सर्ग-मार्ग—देखिए अपवाद-मार्ग।

उत्सर्पिणी—जिस काल मे जीवो की आयु बल ओर ऊचाई आदि का उत्तरोत्तर विकास होता हे, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हे। इसके दुषमा-दुषमा, दुषमा, दुषमा-सुषमा, सुषमा-दुषमा, सुषमा ओर सुषमा-सुषमा ऐसे छह भेद है।

उदबर-फल—ऊमर, कठूमर, पाकर, बड, पीपल आदि वृक्षो के फल, उदबर-फल कहलाते हे। ये त्रस जीवो के उत्पत्ति स्थान हे इसलिए

अभक्ष्य है अर्थात् खाने योग्य नहीं है।

उदय–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव के अनुरूप कर्मो के फल का प्राप्त होना उदय कहलाता है।

उदरक्रिमिनिर्गम–आहार करते समय साधु के उदर से किसी रोगवश कृमि आदि निकल आने पर उदरक्रिमिनिर्गम नाम का अन्तराय होता है।

उदराग्नि-प्रशमन–जैसे अपने घर मे लगी हुई अग्नि को गृहस्वामी किसी भी प्रकार से बुझाने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार साधु भी सरस या नीरस ऐसा भेद किए विना श्रावक के द्वारा दिए गए प्रासुक आहार से उदराग्नि को शान्त करता है अत साधु की यह आहार चर्या उदराग्नि प्रशमन कहलाती है।

उदीरणा–अपक्व अर्थात् नहीं पके हुए कर्मों को पकाना उदोरणा है। दीर्घ काल वाद उदय मे आने योग्य कर्म को अपकर्षण करके उदय मे लाकर उसका अनुभव कर लेना यह उदीरणा है।

उद्दिष्ट-आहार–दाता ओर पात्र की अपेक्षा उद्दिष्ट आहार दो प्रकार का है। दाता यदि अध कर्म सवधी सोलह उद्‌गम दोषो से युक्त आहार साधु को देता हे तो यह दाता सवधी उद्दिष्ट आहार है। यदि पात्र अर्थात् साधु अपने लिए स्वय आहार बनाए, वनवाए या आहार के उत्पादन सवधी किसी प्रकार का विकल्प करे तो यह पात्र सवधी उद्दिष्ट आहार कहलाता है।

उद्दिष्टाहार-त्याग-प्रतिमा–दसवीं अनुमति त्याग प्रतिमा के उपरान्त

गृहत्याग करके जीवन पर्यन्त उद्दिष्ट आहार का त्याग कर देना ओर सदाचारी श्रावक के द्वारा दिया गया प्रासुक आहार दिन मे एक वार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, यह श्रावक की ग्यारहवीं उद्दिष्ट-आहार-त्याग-प्रतिमा कहलाती है। इसे धारण करने वाले उत्तम श्रावक को ऐलक और क्षुल्लक कहा जाता हे।

उद्भिन्न-दोष–वहुत समय से सील-वद करके रखी गई घी शक्कर आदि आहार सामग्री साधु के आने पर तुरत खोलकर देना उद्भिन्न नाम का दोष हे।

उद्यमी-हिसा–खेती या अन्य उद्योग-धधो मे होने वाली हिसा को उद्यमी-हिसा कहते है।

उद्योत-नामकर्म–उष्णता रहित प्रकाश को उद्योत कहते हे। जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर मे उद्योत होता है वह उद्योत नामकर्म हे। यह चद्रमा, चद्रकात मणि ओर जुगनू आदि मे होता हे।

उन्मिश्रदोष–अप्रासुक जल, फल, वीज आदि से मिश्रित आहार साधु को देना उन्मिश्र दोष हे।

उपकरण-दान–पिच्छी, कमण्डलु और शास्त्र आदि मोक्षमार्ग मे सहायक उपकरण श्रद्धापूर्वक सद्पात्र को देना उपकरण-दान कहलाता हे।

उपकल्की–देखिए कल्की।

उपगूहन–मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधक के द्वारा अज्ञानतावश या असमर्थतावश यदि कोई गलती हो जाती हे तो उसे ढक लेना या

यथासभव उसे दूर करना उपगूहन कहलाता है। यह सम्यग्दृष्टि का एक गुण हे।

उपघात-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्ग-उपाङ्ग स्वय उसी जीव के लिये कष्टप्रद या घातक हो जाते है वह उपघात-नामकर्म हे। जेसे–विशाल तोद वाला पेट या वारहसिगा के बडे-बडे सींग।

उपचरित-असद्भूत-व्यवहार–सश्लेष रहित वस्तुओ के सवध को वताने वाला उपचरित-असद्भूत व्यवहार नय हे। यह वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण हे जिसमे सश्लेष से रहित सर्वथा भिन्न वस्तुओ के वीच स्वामित्व आदि की अपेक्षा सवध का कथन किया जाता हे जेसे–'यह देवदत्त का धन हे' या 'यह मेरा मकान है'।

उपचरित-सद्भूत-व्यवहार–सोपाधि गुण ओर गुणी मे भेद का कथन करना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय हे। यह वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण हे जिसमे कर्मोपाधि से युक्त द्रव्य के आश्रित रहने वाले गुणों को उस द्रव्य अर्थात् गुणी से प्रथक् कथन किया जाता हे जेसे–जीव के मतिज्ञान आदि गुण हे–ऐसा कहना।

उपचार-विनय–आचार्य आदि पूज्य पुरुषो के आने पर स्वय उठकर खडे हो जाना, हाथ जोडना ओर उनके पीछे चलना यह उपचार-विनय हे। उपचार विनय तीन प्रकार की हे कायिक-विनय, वाचिक-विनय ओर मानसिक-विनय।

उपदेश-सम्यक्त्व–तीर्थकर आदि महापुरुपो के जीवन चरित्र को सुनकर जो सम्यग्दर्शन होता हे उसे उपदेश-सम्यक्त्व कहते हे।

उपधान–शास्त्र-स्वाध्याय प्रारभ करते समय उस शास्त्र के पूर्ण होने तक विशेष नियम या व्रत धारण करना उपधान नाम का ज्ञानाचार है।

उपपाद–देव व नारकी जीवो के उत्पत्ति स्थान को उपपाद कहते हैं। देवलोक मे देवो का उपपाद-स्थान ढकी हुई शय्या के समान होता है, जहा जीव अतर्मुहूर्त मे सुदर शरीर की रचना कर लेता है। नारकी जीव पाप के उदय से ऊट के मुख की आकृति वाले बिल के समान उपपाद स्थान मे अत्यत कष्टपूर्वक जन्म लेते है।

उपभोग–जीवो के द्वारा जो वस्तु बार-बार भोगी जा सकती है उसे उपभोग कहते है। जैसे–वस्त्र-आभूषण, वाहन, आवास आदि।

उपभोगान्तराय–जिस कर्म के उदय से जीव वस्त्र, आभूषण आदि उपभोग की इच्छा करता हुआ भी उपभोग नहीं कर सकता उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते है।

उपमा-सत्य–जो उपमा सहित हो अर्थात् जिसमे किसी वस्तु की उपमा या समानता अन्य वस्तु से की गई हो वह वचन उपमा-सत्य है। जैसे–मुख को चद्रमा के समान कहना। इसी प्रकार पल्योपम, सागरोपम आदि काल को मापने के जो उपमा-माप है वह भी उपमा-सत्य है।

उपयोग–1 स्व और पर को ग्रहण करने वाले जीव के परिणाम को उपयोग कहते है। 2 जो चेतन्य का अन्वयी है अर्थात् उसे छोडकर अन्यत्र नहीं रहता, वह परिणाम उपयोग कहलाता है। यह दो प्रकार का है–दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग।

उपवास—अन्न-जल आदि सभी प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। या विषय-कषाय को छोडकर आत्मा मे लीन रहना उपवास है।

उपवेशन—आहार करते समय शारीरिक शिथिलता के कारण साधु को यदि अचानक बैठना टिकना या सहारा लेना आवश्यक हो तो यह उपवेशन नाम का अन्तराय है।

उपशम—आत्मा मे कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रगट न होना उपशम कहलाता है। जैसे—जल मे फिटकरी डालने पर मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है इसी प्रकार कर्म के उपशम से अन्तर्मुहूर्त के लिए जीव के परिणाम अत्यंत निर्मल हो जाते है यह उपशम की प्रक्रिया सिर्फ मोहनीय कर्म मे होती है।

उपशम-श्रेणी—चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम करता हुआ साधक जिस श्रेणी अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय और उपशान्त कषाय नामक आठवे, नौवे, दसवे और ग्यारहवे इन चार गुणस्थानो रूप सीढी पर चढता है उसे उपशम-श्रेणी कहते है।

उपशम-सम्यक्त्व—दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम से आत्मा मे जो निर्मल श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते है। यह दो प्रकार का हे—प्रथमोपशम-सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व।

उपशान्त-कषाय—जिसने समस्त मोहनीय कर्म का उपशम कर लिया हे ऐसे ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती जीव को उपशान्तकषाय कहते है।

उपसर्ग—1. साधुजनो पर आने वाली विपत्ति या सकट को उपसर्ग

कहते है। उपसर्ग चार प्रकार का है—मनुष्यकृत, देवकृत, तिर्यचकृत और प्रकृतिजन्य। 2 देव, मनुष्य आदि के द्वारा साधु के ऊपर उपसर्ग होने पर आहार मे बाधा होती है यह उपसर्ग नाम का अन्तराय है।

उपसर्ग-केवली—जो मुनि उपसर्ग सहन करते हुए घातिया कर्मों को जीत कर केवलज्ञान प्राप्त करते है वे उपसर्ग-केवली कहलाते है।

उपादान-कारण—किसी कार्य के होने मे जो स्वय उस कार्य रूप परिणमन करे, वह उपादान कारण कहलाता है। जैसे रोटी के बनने मे गीला आटा उपादान-कारण है।

उपाध्याय—जो साधु जिनागम का उपदेश करते है, स्वय पढते और अन्य साधुओ को पढाते है वे उपाध्याय कहलाते है। उपाध्याय परमेष्ठी चौदह विद्याओ के व्याख्यान करने वाले या तात्कालिक परमागम के व्याख्याता होते हैं। दीक्षा व प्रायश्चित आदि क्रियाओ को छोडकर ये आचार्य के शेष समस्त गुणो से परिपूर्ण होते है।

उपासकाध्ययनाङ्ग—जिसमे श्रावक-धर्म का विशेष विवेचन किया गया हो वह उपासकाध्ययनाङ्ग कहलाता है।

उभय-मन-वचन—सत्य और असत्य दोना रूप पदार्थ का जानने या कहने मे जीव के मन और वचन की प्रयत्न रूप प्रवृत्ति को उभय-मन-वचन योग कहते है। जेसे—कमण्डलु मे जल भरने की क्षमता देखकर उसे घडा मानना या घडा कहना। जल धारण की क्षमता होने से वह घडे की तरह है पर घडा नहीं है। अत सत्य और असत्य दोनो रूप है।

उष्ण-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल स्कन्धो मे उष्णता होती है उसे उष्ण-नामकर्म कहते है।

उष्ण-परीषह-जय–ग्रीष्मकाल मे उपवास आदि के कारण उत्पन्न दाह से पीडित होने पर भी जो साधु उसके प्रतिकार का विचार न करके अपने चरित्र मे दृढता पूर्वक स्थित रहते हैं और उष्णता के कष्ट को समतापूर्वक सहन करते है, उनके यह उष्ण-परीषह-जय है।

ऊ

ऊर्ध्वलोक–समूचा लोक तीन भागो मे विभक्त हे। लोक का ऊपरी भाग ऊर्ध्वलोक कहलाता हे। इसका आकार मृदग अर्थात् ढोलक के समान हे ओर ऊचाई सात राजू हे। यहा वेमानिक देवो का निवास हे। सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नो अनुदिश और पाच अनुत्तर-विमान–ये सभी ऊर्ध्वलोक मे क्रमश ऊपर ऊपर स्थित है।

ऋ

ऋजुगति--पूर्व भव के शरीर को छोडकर आगामी भव मे जाते हुए जीव की जो सरल अर्थात् धनुष से छूटे हुए बाण के समान मोड़ा-रहित गति होती है--उसे ऋजुगति कहते है। इसका दूसरा नाम ईषुगति भी है।

ऋजुमति--जो ज्ञान दूसरे के मन मे स्थित सरल अर्थ को जान लेता है उसे ऋजुमति-मन पर्यय-ज्ञान कहते है।

ऋजुसूत्र--जो केवल वर्तमान काल सबधी पर्याय को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते है। यह दो प्रकार का है--सूक्ष्म-ऋजुसूत्र और स्थूल-ऋजुसूत्र। सूक्ष्म-ऋजुसूत्र-नय प्रतिक्षण होने वाली अर्थ-पर्याय को ग्रहण करता है। स्थूल-ऋजुसूत्र-नय देव, मनुष्य आदि स्थूल पर्यायो को ग्रहण करता है।

ऋद्धि--तपस्या के फलस्वरूप साधु को जो विशेष शक्तिया प्राप्त हो जाती है उन्हे ऋद्धि कहते है। ऋद्धिया सात प्रकार की है जिनके भेद-प्रभेद चौसठ हैं।

ऋद्धिगारव--शिष्य, पुस्तक, कमण्डलु आदि के द्वारा अपना बडप्पन या अभिमान प्रगट करना ऋद्धिगारव नामक दोष है।

ऋषि--ऋद्धि प्राप्त साधुओ को ऋषि कहते हैं। जो चार प्रकार के है--राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि।

ए

एकत्व-वितर्क-अवीचार–मोहनीय कर्म को पूर्णत नष्ट करने के लिए साधु मन-वचन-काय रूप किसी एक योग में स्थित रहकर, अर्थ, व्यजन व योग के परिवर्तन से रहित होकर श्रुत के माध्यम से जो किसी एक द्रव्य, गुण या पर्याय का चितन करता हे उसे एकत्व-वितर्क-अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान कहते हे।

एकत्वानुप्रेक्षा–"मै अकेला ही उत्पन्न होता हू, अकेला ही मरता हू, अकेला ही कर्मो का उपार्जन करता हू और अकेला ही उन्हे भोगता हू, कोई भी स्वजन और परिजन मेरे जन्म, जरा और मरण आदि के कष्ट को दूर नहीं कर सकते, धर्म ही एकमात्र ऐसा हे जो मेरा सहायक हे ओर मेरे साथ जाकर भवान्तर मे भी सहायक हो सकता हे,"–इस प्रकार वार-वार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा हे।

एकभक्त–जीवन-पर्यत प्रतिदिन सूर्य के प्रकाश मे विधिपूर्वक एक ही बार आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना एकभक्त व्रत कहलाता हे। यह साधु का एक मूलगुण है।

एकलविहारी–एकाकी विचरण करने वाले साधु को एकल-विहारी कहते है। पचम काल मे दीक्षा धारण करके अकेले रहना या अकेले विहार करना साधु के लिये प्रशसनीय नहीं है। तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, आचार कुशल, उत्तम सहनन के धारी, धैर्यवान विशिष्ट साधु को ही अकेले विहार की अनुमति, आचार्यो ने दी है।

एकविधअवग्रह–एक प्रकार के अथवा एक जाति के, एक या अनेक

पदार्थो को जानना एकविध-अवग्रह है। जैसे—गेहू, चावल आदि एक प्रकार के धान्य को जानना।

एकान्त-मिथ्यात्व—तत्त्व के विषय मे 'यही है, इस प्रकार का है'—ऐसा भ्रान्त और एकान्त अभिप्राय या आग्रह रखना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे—जीव सर्वथा नित्य ही है या अनित्य ही है—ऐसा मानना।

एकावग्रह—किसी एक पदार्थ को जानना एकावग्रह है। जैसे—अनेक शब्दो मे से किसी एक शब्द को जानना।

एकेन्द्रिय—जिसके एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय है वह एकेन्द्रिय जीव है। वनस्पति, जल, वायु आदि सभी स्थावर जीव एकेन्द्रिय है।

एलाचार्य—गुरु के पश्चात् जो श्रेष्ठ साधु सघस्थ अन्य साधुओ को मार्गदर्शन देता है उसे अनुदिश अर्थात् एलाचार्य कहते है।

एवंभूत-नय—जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है उसी रूप निश्चय करने वाले या नाम देने वाले नय को एवभूत-नय कहते है। आशय यह है कि जिस शब्द का जो वाच्य हे उस रूप क्रिया करते समय ही उस शब्द का प्रयोग करना ठीक है अन्य समयो मे नहीं। जैसे—जिस समय आज्ञा या ऐश्वर्यवान् हो उस समय ही इन्द्र है, पूजा या अभिषेक करने वाला इन्द्र नहीं कहलाएगा।

एषणा-समिति—जीवन पर्यन्त सुकुल श्रावक के द्वारा दिया गया निर्दोष और प्रासुक आहार समतापूर्वक ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना एषणा-समिति है। यह साधु का एक मूलगुण है।

ऐ

ऐरावत क्षेत्र—यह क्षेत्र छह खण्डो मे विभाजित है। इसमे पाच म्लेच्छखण्ड और एक आर्यखण्ड है। भरत क्षेत्र के समान ही सभी शलाका पुरुष इस क्षेत्र के आर्यखण्ड मे उत्पन्न होते हैं। ऐरावत नामक राजा के द्वारा परिपालित होने से इसका ऐरावत-क्षेत्र नाम प्रसिद्ध हुआ है। अढाई द्वीप मे पाच ऐरावत-क्षेत्र है।

ऐरावत हाथी—सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के वाहन जाति के देव विक्रिया के द्वारा एक लाख योजन प्रमाण दीर्घ ऐरावत नामक हाथी बनते है। यह हाथी दिव्य रत्न-मालाओ से युक्त बत्तीस मुख वाला होता है। तीर्थंकरो के जन्माभिषेक के अवसर पर बालक-तीर्थंकर को लेकर सौधर्म इन्द्र इसी हाथी पर बैठकर आकाशमार्ग से सुमेरु पर्वत पर जाता है।

ऐलक—जो श्रावक की समस्त ग्यारह प्रतिमाओ का पालन करते है, शरीर पर एकमात्र कौपीन रूप वस्त्र धारण करते हैं और दिन मे एक बार बैठकर हाथ की अजली मे गृहस्थ के द्वारा दिया गया निर्दोष व प्रासुक आहार लेते हैं वे ऐलक कहलाते है। केशलुचन करना इनके नियमो मे शामिल है।

ओ

ओज आहार–पक्षियो के द्वारा अण्डे सेते समय जो उष्मा दी जाती है वह ओज-आहार है।

ओम्–यह पच परमेष्ठी वाचक मत्र है। अर्हन्त का अ, सिद्ध अर्थात् अशरीरि का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म्। इस तरह पच परमेष्ठी के प्रथम अक्षरो से मिलकर 'ओम्' बना है।

औ

औदयिक-भाव–जीव के जो भाव कर्म के उदय से उत्पन्न होते हे वह ओदयिक-भाव कहलाते हे। ओदयिक-भाव इक्कीस हें–चार गति, चार कषाय, तीन लिग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असयम, एक असिद्ध भाव ओर छह लेश्याए।

औदारिक शरीर–जो शरीर गर्भजन्म से या सम्मूर्छन जन्म से उत्पन्न होता हे वह औदारिक शरीर है। अथवा तिर्यच ओर मनुष्यो के स्थूल शरीर को औदारिक शरीर कहते हे।

औपशमिक-भाव–जो कर्मो के उपशम से उत्पन्न होता है उसे ओपशमिक-भाव कहते हे। ओपशमिक भाव दो हैं–औपशमिक सम्यक्त्व ओर ओपशमिक-चारित्र।

औषधि दान–श्रद्धापूर्वक सद्पात्र को अनुकूल ओषधि, पथ्य आदि देना औषधि-दान कहलाता है।

क

कथा–1 मोक्ष पुरुषार्थ के लिये उपयोगी होने से धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का कथन करना कथा कहलाती है। 2 जिससे जीवो को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है वह धर्म कहलाता है। धर्म से सबध रखने वाली कथा को धर्मकथा या सत्कथा कहते है। 3 प्रथमानुयोग आदि शास्त्र ही धर्मकथा है। आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, सवेगनी और निर्वेगनी–ये चार धर्म-कथा के भेद है।

कदलीघात-मरण–विष, वेदना, रक्त-क्षय, भय, शस्त्राघात, सक्लेश, अनीति, आहार व श्वास के रोकने आदि किसी बाह्य कारण के द्वारा जो सहसा आयु का घात होता है उसे कदलीघात-मरण या अकाल-मृत्यु कहते है।

करण-लब्धि–करण का अर्थ परिणाम है। सम्यग्दर्शन के योग्य परिणामो की प्राप्ति होना करण-लब्धि है। करण-लब्धि भव्य जीवो को ही होती है। करण-लब्धि के अतर्गत जीव अध प्रवृत्त करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करण रूप तीन करण करता है।

करणानुयोग–लोक-अलोक के विभाग, युगो के परिवर्तन और चारो गतियो के स्वरूप को वताने वाला शास्त्र करणानुयोग है। इस अनुयोग के कथन का प्रयोजन यह है कि लोक-अलोक आदि के वर्णन मे उपयोग रम जाए तो पाप-प्रवृत्ति से छूटकर जीव स्वयमेव धर्म मे लग जायेगा। लोक-अलोक का ऐसा सूक्ष्म वर्णन पढने से श्रद्धान मे दृढता ओर परिणामो मे निर्मलता आयेगी।

करुणा-दान—दीन-दुखी जीवो को दयापूर्वक यथायोग्य आहार औषध आदि देना करुणा-दान या दया-दत्ति कहलाता है।

करेण-किंचित्-ग्रहण—आहार के समय यदि साधु अपने हाथ से कुछ उठा लेता है तो यह करेण-किंचित्-ग्रहण नाम का अन्तराय कहलाता है।

कर्म—जीव मन वचन काय के द्वारा प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता है वह सब उसकी क्रिया या कर्म है। कर्म के द्वारा ही जीव परतत्र होता है और ससार मे भटकता है। कर्म तीन प्रकार के हैं—द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म और नो-कर्म।

कर्म-चेतना—ऐसा अनुभव करना कि 'इसे मैं करता हू'—यह कर्म-चेतना है। वास्तव मे, जीव का स्वभाव मात्र जानना देखना है पर कर्म से युक्त जीव 'पर' वस्तुओं मे करने-धरने रूप विकल्प करता है यही कर्म-चेतना है।

कर्मप्रवाद—जिसमे कर्मो की बध, उदय, उपशम आदि विविध अवस्थाओ का और स्थिति आदि का वर्णन है वह कर्म-प्रवाद-पूर्व नाम का आठवा पूर्व है।

कर्मफल-चेतना—ऐसा अनुभव करना कि 'इसे मैं भोगता हू' यह कर्मफल-चेतना है। अज्ञानी ससारी जीव इन्द्रिय-जनित सुख-दुख मे तन्मय होकर 'सुखी या दुखी'—ऐसा अनुभव करता है यही कर्म-फल-चेतना है।

कर्मभूमि—जहा के निवासी खेती, व्यापार आदि कर्म करके अपनी

आजीविका चलाते है उसे कर्मभूमि कहते है। कर्मभूमि मे जीव दान पुण्य आदि धर्म कार्य कर सकते है और सयम धारण करके मोक्ष भी प्राप्त कर सकते है। तीर्थकर आदि सभी महापुरुष कर्म-भूमि मे ही उत्पन्न होते है। अढाई द्वीप मे पाच भरत, पाच ऐरावत और पाच विदेह सबधी पद्रह कर्मभूमिया हैं।

कर्माहार–नारकी जीवो के आहार को कर्माहार कहते है।

कल्की–साधुजनो पर अत्याचार करने वाले धर्मद्रोही राजा को कल्की कहते है। अवसर्पिणी के पचमकाल मे प्रत्येक एक हजार वर्ष के बाद एक-एक कल्की का जन्म होता है तथा प्रत्येक पाच सौ वर्ष के वाद एक-एक उपकल्की जन्म लेता है। इस प्रकार पूरे पचमकाल मे इक्कीस कल्की और उतने ही उपकल्की धर्मात्माओ पर अत्याचार करने के कारण प्रथम नरक जाते है। प्रत्येक कल्की के समय मे साधु-सघ अत्यत अल्प रह जाता है। अंतिम कल्की के समय मात्र एक साधु, एक आर्यिका, एक श्रावक और एक श्राविका शेष रहते है जो समाधि-मरण ग्रहण करके स्वर्ग जाते है। इसके उपरात धर्म-कर्म से शून्य दुखमा-दुखमा नामक छठा काल प्रारभ होता है।

कल्प-काल–दश कोडाकोडी सागर प्रमाण अवसर्पिणी और उतना ही उत्सर्पिणी, ये दोनो मिलकर अर्थात् बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण एक कल्प-काल होता है।

कल्पद्रुम-पूजा–चक्रवर्ती के द्वारा किमिच्छक-दान अर्थात् सभी को इच्छानुरूप दान देकर जो भगवान जिनेन्द्र की पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुम पूजा कहते है।

कल्पवासी-देव–इन्द्र सामानिक आदि भेद युक्त देव जहा रहते हे उस कल्प कहते हे। अत कल्प मे उत्पन्न होने वाले देवो को कल्पवासी देव कहा जाता हे। सभी सोलह स्वर्गो के देव कल्पवासी हें।

कल्पवृक्ष–जो जीवो को अपनी-अपनी मनवांछित वस्तुए दिया करते हे वे कल्पवृक्ष कहलाते हे। भोगभूमि मे पानाग, तूर्याग, भूषणाग, वस्त्राग, भोजनाग, आलयाग, दीपाग, भाजनाग, मालाग और तेजाग आदि कल्पवृक्ष होते हे।

कल्पातीत-देव–इन्द्र सामानिक आदि भेद से रहित देव कल्पातीत-देव कहलाते हे। सोलह स्वर्ग से ऊपर नो ग्रैवेयक, नो अनुदिश ओर पाच अनुत्तर विमानो मे सभी कल्पातीत-देव है।

कल्प्यव्यवहार–जिसमे साधुओ के योग्य आचरण का ओर अयोग्य-आचरण होने पर प्रायश्चित विधि का वर्णन हे वह कल्प्यव्यवहार नामक अङ्गबाह्य श्रुत है।

कल्प्याकल्प्य–"द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मुनियो के लिए यह योग्य हे, और यह अयोग्य हे",–इस तरह इन सबका वर्णन करने वाला कल्प्याकल्प नामक अङ्गबाह्य श्रुत हे।

कल्याणक–तीर्थकरो के जीवन मे पाच प्रसिद्ध अवसर ऐसे आते हैं जो जगत् के लिए कल्याणकारी होते हे इन्हे ही पचकल्याणक कहते हैं। गर्भ-कल्याणक, जन्म-कल्याणक, दीक्षा-कल्याणक, ज्ञान-कल्याणक और मोक्ष-कल्याणक–ये पाच कल्याणक हे। भरत ओर ऐरावत क्षेत्र मे पाचो कल्याणक वाले तीर्थकर उत्पन्न होते है। विदेह क्षेत्र मे दो या तीन कल्याणक वाले तीर्थकर भी होते है।

कल्याणवाद-पूर्व—जिसमे सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारागणों के गमन-क्षेत्र, उपपाद-स्थान, अनुकूल-प्रतिकूल गति तथा उसके फल का, पक्षियो के शब्दो का एव तीर्थकर के पच कल्याणको का वर्णन किया गया है वह कल्याणवाद-पूर्व नाम का ग्यारहवा पूर्व है।

कवलाहार—मनुष्य और तिर्यचो के द्वारा कवल अर्थात् ग्रास के रूप मे जो आहार मुख से ग्रहण किया जाता है वह कवलाहार है। यह खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय-ऐसे चार प्रकार का है।

कषाय—आत्मा मे होने वाली क्रोधादि रूप कलुषता को कषाय कहते है। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषाये है।

कषाय-समुद्घात—वाह्य निमित्त पाकर कषाय की तीव्रता मे जीव के आत्म-प्रदेश शरीर से तिगुने फैल जाते हे यह कषाय-समुद्घात हे।

काक—आहार के लिए जाते समय या आहार करते समय साधु के ऊपर कौआ आदि पक्षी वीट कर दे तो यह काक नाम का अन्तराय है।

काकादि-पिण्ड-हरण—आहार करते समय कोआ आदि पक्षी साधु के हाथ से ग्रास उठा ले जाए तो यह काकादि-पिण्ड-हरण नाम का अन्तराय है।

कापोत-लेश्या—ईर्ष्या करना, चुगली करना, दूसरे का अपमान करना, आत्म-प्रशसा करना, दूसरो की निन्दा करना, अपनी प्रशसा सुनकर सतुष्ट होना, युद्ध मे मरने की इच्छा रखना और कर्तव्य-अकर्त्तव्य को नहीं पहचानना—ये सव कापोत लेश्या के लक्षण है।

कामदेव—चौबीस तीर्थकरो के समय मे अनुपम सौदर्य को धारण करने

का हे–निश्चय-काल और व्यवहार-काल।

काल-परिवर्तन–कोई जीव उत्सपिर्णी काल के प्रथम समय मे उत्पन्न हुआ व आयु पूर्ण होने पर मर गया फिर वह भ्रमण करके द्वितीय उत्सर्पिणी काल के द्वितीय समय मे उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण होने पर मर गया, फिर वह भ्रमण करके तृतीय उत्सर्पिणी के तृतीय समय मे उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण होने पर मर गया, इस प्रकार क्रम से उसने उत्सर्पिणी काल के प्रत्येक समय मे जन्म लिया और फिर क्रम से अवसर्पिणी काल पूरा किया। अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-काल के बीस कोडा-कोडी सागर के जितने समय हे उनमे क्रमश उत्पन्न हुआ और क्रमश मरण भी किया। यह सब मिलकर एक काल-परिवर्तन है। तात्पर्य यह हे कि काल-परिवर्तन रूप ससार मे भ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सपूर्ण समयो मे अनेक वार जन्म धारण करता हे और मरता हे।

काल-पूजा–तीर्थकरो के पचकल्याणक की तिथिया तथा अन्य दसलक्षण आदि पर्व के दिनो को निमित्त बनाकर जो पूजा की जाती हे वह काल-पूजा है।

काल-लब्धि–सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे काल लब्धि आदि बहिरग कारण और करण लब्धि रूप अतरग कारण होना अनिवार्य हे। तीन प्रकार की काल लब्धि मानी गयी है–प्रत्येक भव्यात्मा अर्धपुद्‌गल परिवर्तन काल शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होता है इससे अधिक काल शेष रहने पर नहीं होता, यह ससार-स्थिति सवधी प्रथम काल-लब्धि है। उत्कृष्ट या जघन्य स्थिति वाले कर्मो के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता वल्कि जब वधने

वाले कर्मो की स्थिति अत कोडकोडी सागर होती है और विशुद्ध परिणामो के फलस्वरूप सत्ता मे स्थित कर्मो की स्थिति सख्यात हजार सागर कम अत कोडाकोडी सागर रह जाती है तव यह जीव प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होता है, यह कर्म-स्थिति सबधी द्वितीय काललब्धि है। जो जीव भव्य है, सज्ञी, पचेन्द्रिय, पर्याप्तक हे और सर्वविशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य है, यह भव सवधी तीसरी काल-लब्धि है।

काल-सामायिक–ग्रीष्म आदि किसी भी ऋतु के आने पर उसमे राग-द्वेष नहीं करना समता-भाव रखना काल-सामायिक है।

काल-स्तव–तीर्थंकरो के गर्भ, जन्म आदि पच-कल्याणको की शुभ क्रियाओ से जो महत्ता को प्राप्त हो चुका है ऐसे काल का वर्णन करना काल-स्तव हे।

कालाचार–स्वाध्याय के योग्य काल मे ही शास्त्र का पठन-पाठन आदि करना कालाचार या काल-शुद्धि है।

कालोदधि–मध्यलोक का द्वितीय समुद्र। यह कृष्णवर्ण का है और धातकीखण्ड द्वीप को सब ओर से घेरे हुए है। इसमे चौबीस द्वीप अभ्यन्तर सीमा मे और चौवीस वाह्य सीमा मे है। इन सभी द्वीपो मे हाथी, घोडा, ऊट आदि के समान आकृति वाले कुभोगभूमिज मनुष्य रहते है।

कीलक-सहनन–जिस कर्म के उदय से शरीर मे हड्डियो की सधिया कील आदि के विना मात्र परस्पर जुडी रहती हे वह कीलक-सहनन नामकर्म कहलाता है।

कुगुरु–आरभ और परिग्रह मे सलग्न साधु तथा पाखण्डी वेषधारी साधु कुगुरु कहलाते है।

कुदेव–जो देव अपने साथ स्त्री, अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र आदि परिग्रह रखते हे एव रागद्वेष से दूषित होकर शाप और वरदान देते है वे कुदेव कहलाते है।

कुधर्म–जिस धर्म या धर्मग्रन्थ मे हिसादि पापाचरण को धर्म माना गया हो उसे कुशास्त्र या कुधर्म कहते है।

कुथुनाथ–सत्रहवे तीर्थंकर और छठे चक्रवर्ती। हस्तिनापुर के कौरववशी महाराज सूरसेन और रानी श्रीकान्ता के यहा जन्म लिया। इनकी आयु पचानवे हजार वर्ष थी। शरीर की ऊचाई पैतीस धनुष और आभा स्वर्ण के समान थी। चक्रवर्ती का विपुल-वैभव त्याग कर एक दिन दिगम्बर दीक्षा अङ्गीकार कर ली। सोलह वर्ष तक कठिन तपस्या के उपरान्त केवलज्ञान प्राप्त किया। इनके चतुर्विध सघ मे स्वयभू आदि पैंतीस गणधर, साठ हजार मुनि, साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकाए, तीन लाख श्राविकाए और दो लाख श्रावक थे। इन्होने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

कुब्जक-सस्थान–जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कुवडा होता है उसे कुब्जक-शरीर-सस्थान नामकर्म कहते है।

कुल–1 दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परपरा को कुल कहते है। 2 पिता की वश परपरा को कुल कहते है।

कुलकर–कर्मभूमि के प्रारभ मे आर्य पुरुषो को कुल या कुटुम्व की

भांति इकट्ठे रहकर जीने का उपदेश देने वाले महापुरुष कुलकर कहलाते है। प्रजा के जीवन-यापन का उपाय जानने से ये मनु भी कहलाते है। प्रत्येक अवसर्पिणी के तीसरे और उत्सर्पिणी के दूसरे काल मे चोदह कुलकर होते है। ये सभी क्षायिक सम्यग्दृष्टी होते है। इसमे किसी को जातिस्मरण और किसी को अवधिज्ञान होता है।

कुशील–कामसेवन मे आसक्त होना कुशील है। अथवा शील का अर्थ स्वभाव है अत अपने आत्म-स्वभाव से विचलित होना कुशील है।

कुशील साधु–यह निर्ग्रन्थ साधु का एक भेद है। कुशील नामक निर्ग्रथ साधु दो प्रकार के हे–कषाय कुशील और प्रतिसेवना कुशील। जिन्होने अन्य सभी कपायो को जीत लिया है जो केवल सज्वलन कपाय के अधीन है ऐसे निर्ग्रन्थ साधु कपाय-कुशील कहलाते है। जो मूलगुण और उत्तरगुणो से परिपूर्ण हे लेकिन कभी उत्तरगुणो की विराधना जिनसे हो जाती है ऐसे निर्ग्रन्थ साधु प्रतिसेवना-कुशील कहलाते है।

कृत–स्वय अपने द्वारा किया गया कार्य कृत कहलाता है।

कृतिकर्म–1 अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य ओर बहुश्रुतवान् साधु की वदना करते समय जो विनय आदि क्रिया की जाती है उसे कृतिकर्म कहते है। 2 जिसमे अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य और साधु की पूजा विधि का वर्णन है वह कृतिकर्म नाम का अङ्गबाह्य है।

कृष्ण-लेश्या–कृष्ण-लेश्या से युक्त दुष्ट पुरुष अपने ही गोत्रीय बधु ओर एकमात्र पुत्र को भी मारने की इच्छा करता है। दुराग्रह, तीव्र वेर, अतिक्रोध, निर्दयता, क्लेश, सताप, हिसा, असतोष आदि

तामस-भाव कृष्ण-लेश्या के लक्षण हे।

केवलज्ञान–जो सकल चराचर जगत् को दर्पण मे झलकते प्रतिबिंब की तरह एक साथ स्पष्ट जानता हे वह केवलज्ञान हे। यह ज्ञान चार घातिया कर्मो के नष्ट होने पर आत्मा मे उत्पन्न होता है।

केवलदर्शन–समस्त आवरण का क्षय होने से जो सर्व चराचर जगत् का सामान्य प्रतिभास होता हे उसे केवल-दर्शन कहते हे। केवलज्ञान ओर केवलदर्शन क्रमश न होकर एक साथ ही होते है।

केवलि-अवर्णवाद–"केवली भगवान कवलाहार करते हैं, कम्बल व भिक्षा-पात्र ग्रहण करते है उनके ज्ञान व दर्शन एक साथ न होकर क्रमश होते हे तथा वे नग्न होते हुए भी वस्त्राभूषण से आभूषित दिखाई देते हे"–इस प्रकार केवली भगवान के विषय मे मिथ्या कथन करना केवलि-अवर्णवाद है।

केवलि-समुद्घात–आयुकर्म की स्थिति अल्प ओर वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होने पर उसे आयु के समान करने के लिए केवली भगवान् के आत्म-प्रदेश मूल शरीर से बाहर फैलते हैं इसे केवलि-समुद्घात कहते हैं। जैसे–दूध मे उबाल आकर शात हो जाता हे उसी प्रकार यह प्रक्रिया होती है। यह समुद्घात दड, कपाट, प्रतर व लोकपूरण–इन चार अवस्थाओ मे क्रमश पूर्ण होता है।

केवली–चार घातिया कर्मों के क्षय होने से जिन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया है वे केवली कहलाते हे। इन्हे अर्हन्त भी कहते है। केवली दो प्रकार के है–सयोग-केवली और अयोग-केवली। केवली भगवान जब तक विहार और उपदेश आदि क्रियाए करते हैं तब तक

सयोग-केवली कहलाते हे। आयु के अंतिम कुछ क्षणो मे जव इन क्रियाओ का त्याग करके योग-निरोध कर लेते है तव वे अयोग-केवली कहलाते है। तीर्थकर-केवली, सातिशय-केवली, मूक-केवली, उपसर्ग-केवली, अन्तकृत-केवली और सामान्य केवली—ऐसे केवली के छह भेद है।

केशलौंच—जीवन पर्यन्त निश्चित अवधि के उपरात अपने सिर, दाढी और मूछ के बालो को विना खेद के शान्त-भाव से उखाड कर अलग कर देने की प्रतिज्ञा लेना यह साधु का केशलौच नाम का मूलगुण है। इसे अधिकतम चार महीने के अतराल मे करना अनिवार्य है। केशलौच के दिन उपवास भी किया जाता है।

कैलास-पर्वत—यह तीर्थकर ऋषभदेव की निर्वाणभूमि है। चक्रवर्ती भरत ने यहा महारत्नो से निर्मित चौवीस जिनालय बनवाये थे। पाच सौ धनुष ऊची भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा भी उन्होने यही स्थापित करायी थी।

कोडाकोड़ी—एक करोड मे एक करोड का गुणा करने पर जो राशि प्राप्त होती है उसे एक कोडाकोडी या एक कोटाकोटी कहते है।

कोष्ठ-बुद्धि—उत्कृष्ट धारणा ज्ञान से युक्त जो साधु गुरु के उपदेश से अनेक प्रकार के ग्रथो मे से शब्द रूपी बीज-पदो को अपने बुद्धि रूपी कोठे मे धारण कर लेते है उनकी बुद्धि को कोष्ठ बुद्धि कहा जाता है। यह एक ऋद्धि है।

क्रियाविशाल—जिसमे लेखन कला आदि बहत्तर कलाओ का, स्त्री सवधी चोसठ गुणो का, काव्य-सवधी गुण-दाष-विधि का ओर छद निर्माण कला का विवेचन हे वह क्रिया-विशाल-पूर्व नाम का तेरहवा पूर्व हे।

क्रीत-दोष—अपनी गाय आदि किसी वस्तु को देकर वदले मे आहार सामग्री लेकर साधु को देना क्रीत-दोष हे।

क्रोध—अपने और दूसरे के घात या अहित करने रूप क्रूर परिणाम को क्रोध कहते हे। वह पर्वत रेखा, पृथ्वी रेखा, धूलि रेखा और जल रेखा के समान चार प्रकार का है।

क्रोध-दोष—दाता के सामने क्रोध प्रगट करके यदि साधु आहार प्राप्त करता है तो यह क्रोध नामक दोष हे।

क्षपक—क्षपक-श्रेणी पर चढने वाला जीव चारित्रमोहनीय का अन्तरकरण कर लेने पर क्षपक कहलाता है। क्षपक दो प्रकार के हे—अपूर्वकरण-क्षपक और अनिवृत्तिकरण-क्षपक।

क्षपक-श्रेणी—मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ साधु जिस श्रेणी अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-साम्पराय और क्षीण-मोह नामक आठवे, नौवे, दसवे और वारहवे—इन चार गुणस्थानो रूप सीढी पर आरूढ होता है उसे क्षपक-श्रेणी कहते हे।

क्षमा-धर्म—क्रोध उत्पन्न कराने वाले कारण मिलने पर भी जो थोडा भी क्रोध नही करता उसके यह क्षमाधर्म हे। अथवा क्रोध का अभाव होना ही क्षमा है।

क्षय–क्षय का अर्थ हे नष्ट होना। जैसे फिटकरी आदि मिलाने पर स्वच्छ हुए जल को दूसरे साफ बर्तन मे बदल देने पर कीचड का अत्यन्त अभाव हो जाता है ऐसे ही कर्मो का आत्मा से सर्वथा दूर हो जाना क्षय है।

क्षयोपशम–जेसे कोदो को धोने से कुछ कोदो की मादकता नष्ट हो जाती है कुछ बनी रहती है इसी तरह परिणामो की निर्मलता से कर्मो के एकदेश का क्षय और एकदेश का उपशम होना क्षयोपशम कहलाता है। यद्यपि इस अवस्था मे कुछ कर्मो का उदय भी विद्यमान रहता है परन्तु उसकी शक्ति अत्यत क्षीण हो जाने के कारण वह जीव के गुणो को घातने मे समर्थ नहीं होता। इसीलिए कर्मो का उदय होते हुए भी जो जीव के गुण का अश उपलब्ध रहता है उसे क्षयोपशम कहते है।

क्षयोपशम-लब्धि–ज्ञानावरणीय कर्म के एकदेश क्षय होने को क्षयोपशम कहते है। क्षयोपशम होने पर आत्मा मे जो ज्ञान उत्पन्न होता हे उसे क्षयोपशम-लब्धि कहते हैं।

क्षायिक-उपभोग–उपभोगान्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से आत्मा के अनन्त उपभोग होता है। इसे क्षायिक-उपभोग भी कहते हैं। इसके फलस्वरूप अर्हन्त अवस्था मे सिहासन, छत्र, चमर आदि रूप विभूतिया प्राप्त होती है।

क्षायिक-भोग–भोगान्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से आत्मा के अनन्त-भोग या क्षायिक-भोग का प्रादुर्भाव होता है। जिसके फलस्वरूप अर्हन्त अवस्था मे पुष्प-वृष्टि आदि अतिशय होते है।

क्षायिक-दान—दानान्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से आत्मा मे अनन्त क्षायिक दान प्रगट होता है जिसके फलस्वरूप अनन्त जीवो का उपकार करने की सामर्थ्य होती है।

क्षायिक-चारित्र—चारित्र मोहनीय के क्षय से उत्पन्न होने वाले वीतराग परम यथाख्यात चारित्र को क्षायिक-चारित्र कहते हे।

क्षायिक-ज्ञान—ज्ञानावरण-कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले अनन्त ज्ञान को क्षायिक-ज्ञान कहते है। इसे केवलज्ञान भी कहते हे।

क्षायिक-भाव—जो कर्मो के क्षय से उत्पन्न होता हे वह क्षायिक-भाव कहलाता हे। क्षायिक भाव के नो भेद है—क्षायिक-ज्ञान, क्षायिक-दर्शन, क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग, क्षायिक-उपभोग, क्षायिक-वीर्य, क्षायिक-सम्यक्त्व ओर क्षायिक-चारित्र।

क्षायिक-लाभ—लाभान्तराय कर्म के क्षय से आत्मा मे अनन्त लाभ या क्षायिक-लाभ का प्रादुर्भाव होता है जिसके फलस्वरूप अर्हन्त अवस्था मे शरीर के योग्य अत्यत शुभ, सूक्ष्म और असाधारण पुद्गल स्कध प्रतिसमय प्राप्त होते रहते हे।

क्षायिक-वीर्य—वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से आत्मा मे अनन्त वीर्य या क्षायिक वीर्य का प्रादुर्भाव हाता है जिसके फलस्वरूप कवली भगवान को चराचर अनन्त पदार्थो को जानने की सामर्थ्य प्राप्त हाती है।

क्षायिक-सम्यक्त्व—अनन्तानुवधी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व ओर सम्यक्-मिथ्यात्व इन सात कर्म प्रकृतिया का क्षय होन से आत्मा मे जो निर्मल श्रद्धान उत्पन्न होता है उस क्षायिक-सम्यक्त्व

या क्षायिक-सम्यग्दर्शन कहते है।

क्षायोपशमिक-चारित्र–चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा मे जो विषय-कषाय से निवृत्ति और व्रतादिक मे प्रवृत्ति रूप परिणाम उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक-चारित्र कहते है।

क्षायोपशमिक-ज्ञान–मतिज्ञानावरणादि अपने-अपने आवरणी कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय इन चार ज्ञानो को क्षायोपशमिक-ज्ञान कहते है।

क्षायोपशमिक-भाव–जो कर्मो के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिक-भाव है। क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद है–मतिज्ञान आदि चार ज्ञान, कुमति आदि तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन, दान आदि पाच लब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र और सयमासयम।

क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व–अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियो के उदयाभावी क्षय और उन्ही के सदवस्थारूप उपशम से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले तत्त्वार्थ-श्रद्धान को क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व कहते है।

क्षितिशयन-व्रत–जीवन पर्यत प्रासुक भूमि पर या तृणादि से बने सस्तर पर किसी एक करवट से शयन करने की प्रतिज्ञा लेना क्षितिशयन-व्रत कहलाता है। यह मुनियो का एक मूलगुण हे।

क्षिप्र-अवग्रह–वस्तु को शीघ्रतापूर्वक अर्थात् जल्दी से जान लेना क्षिप्र-अवग्रह कहलाता है।

क्षीण-कपाय—मोहनीय कर्म का क्षय करने वाले वारहवे गुणस्थानवर्ती निर्ग्रंथ वीतराग साधु को क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हे।

क्षीरस्रावी ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ मे दिया गया रूखा-सूखा आहार तत्काल दूध के समान हो जाता हे या जिसके प्रभाव से साधु के वचन सुनने मात्र से मनुष्य ओर तिर्यचो के दुखादि शात हो जाते हे उसे क्षीरस्रावी-ऋद्धि कहते है।

क्षुद्रभव—एक अन्तर्मुहूर्त मे लव्ध्यपर्याप्तक जीव के जितने भव होते हे वे क्षुद्रभव कहलाते हे। एकेन्द्रिय के क्षुद्रभव 66132, दो, तीन व चार इन्द्रिय के 180, पचेन्द्रिय के 24 इस प्रकार कुल 66336 क्षुद्रभव एक अतर्मुहूर्त मे हो सकते है।

क्षुधा-परीषह-जय—जो साधु आहार नही मिलने पर या अन्तराय हो जाने पर उत्पन्न होने वाली क्षुधा अर्थात् भूख की वेदना को समतापूर्वक सहन करता है, उसके क्षुधा-परीषह-जय होता हे।

क्षुल्लक—जो श्रावक की समस्त ग्यारह प्रतिमाओ का पालन करते है, शरीर पर एक चादर और एक कोपीन रूप वस्त्र धारण करते है और दिन मे एक बार वैठकर थाली या कटोरे मे गृहस्थ के द्वारा दिया गया प्रासुक आहार लेते है वे क्षुल्लक कहलाते हे।

क्षेत्र—वर्तमान काल सबधी निवास का नाम क्षेत्र हे। किस गुणस्थान या मार्गणा स्थान वाले जीव इस लोक मे कहा और कितने भाग मे पाए जाते है यह जानकारी क्षेत्र के द्वारा मिलती है।

क्षेत्र-परिवर्तन—क्षेत्र परिवर्तन के दो भेद है—स्वक्षेत्र परिवर्तन और

परक्षेत्र परिवर्तन। स्वक्षेत्र परिवर्तन—कोई जीव सूक्ष्म निगोदिया की जघन्य अवगाहना से उत्पन्न हुआ और अपनी आयु पूर्ण करके मर गया फिर वही जीव एक प्रदेश अधिक अवगाहना लेकर उत्पन्न हुआ ओर आयु पूर्ण करके मर गया। इस प्रकार एक-एक प्रदेश अधिक की अवगाहनाओ को धारण करते-करते महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है। इस प्रकार छोटी अवगाहना से लेकर वडी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओ को धारण करने मे जितना काल लगता हे उसे स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हे। परक्षेत्र परिवर्तन—जिसका शरीर आकाश के सबसे कम प्रदेशो पर स्थित हे ऐसा एक सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्यप्रदेशो को अपने शरीर के आठ मध्य प्रदेश वनाकर उत्पन्न हुआ ओर आयु पूर्ण करके मर गया फिर वही जीव पुन उसी अवगाहना से वहा दूसरी वार उत्पन्न हुआ, तीसरी वार उत्पन्न हुआ, इस प्रकार अङ्गुल के असख्यातवे भाग मे आकाश के जितने प्रदेश हे उतनी वार वही उत्पन्न हुआ। पुन उसने आकाश का एक-एक प्रदेश वढाकर सव लोक को अपना जन्म क्षेत्र बनाया। इस प्रकार यह सव मिलकर एक परक्षेत्र परिवर्तन होता है। तात्पर्य यह है कि क्षेत्र परिवर्तन रूप ससार मे अनेक वार भ्रमण करता हुआ जीव तीनो लोक मे ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहा पर अनेक अवगाहनाओ के साथ उत्पन्न न हुआ हो।

क्षेत्र-पूजा—तीर्थंकरो के गर्भ, जन्म, आदि पच-कल्याणक जहा-जहा हुए हे उन स्थानो की विधिपूर्वक पूजा करना क्षेत्र-पूजा है।

क्षेत्र-विपाकी—जिन कर्मो का विपाक अर्थात् फल विग्रह गति के रूप

ग

गङ्गा-नदी–चौदह महानदियो मे प्रथम नदी। यह हिमवान् पर्वत पर पद्म-सरोवर के पूर्व द्वार से निकली है। इसके उद्गम स्थान का विस्तार छ योजन और एक कोस तथा गहराई आधा कोस है। यह अपने उद्गम से पाच सौ योजन पूर्व दिशा की ओर बहकर गगाकूट से लौटती हुई दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र मे आयी है। अत मे यह चौदह हजार सहायक नदियो के साथ पूर्व-लवण-समुद्र मे प्रवेश करती है। इसे जाह्नवी, व्योमापगा, आकाशगङ्गा, त्रिमार्गा और मंदाकिनी भी कहते है।

गण–दो या तीन चिरदीक्षित साधुओ के समूह को गण कहते है।

गणधर–जो तीर्थकर के पादमूल मे समस्त ऋद्धिया प्राप्त करके भगवान की दिव्यध्वनि को धारण करने मे समर्थ है और लोक-कल्याण के लिए उस वाणी का सार द्वादशाग श्रुत के रूप मे जगत को प्रदान करते है, ऐसे महामुनीश्वर 'गणधर' कहलाते है। प्राप्त ऋद्धियो के बल से गणधर आहार, नीहार, निद्रा, आलस्य आदि से सर्वथा मुक्त है अत चौबीस घटे निरतर भगवान की वाणी हृदयगम करने मे सलग्न रहते है। ये तद्भव मोक्षगामी होते है।

गति-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य, तिर्यच, देव व नारकीपने को प्राप्त करता है उसे गति नामकर्म कहते है। मनुष्यगति, तिर्यचगति, देवगति व नरकगति–ये चार गतिया है।

गन्ध-नामकर्म–जिस नामकर्म के उदय से जीव के शरीर मे अपनी

जाति के अनुरूप गध उत्पन्न होती है उसे गध-नामकर्म कहते है। यह दो प्रकार का है—सुरभि-गध और दुरभि-गध नामकर्म।

गन्धकुटी—समवसरण मे तीर्थकर भगवान के बैठने का स्थान गधकुटी कहलाता है। इसके मध्य मे अत्यन्त मनोहर सिहासन होता है। जिस पर स्थित कमल के ऊपर भगवान अतरिक्ष मे विराजमान होते है।

गरिमा-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से वज्र से भी गुरुतर अर्थात् भारी शरीर बनाया जा सके उसे गरिमा-ऋद्धि कहते है।

गर्तपूरण-वृत्ति—जिस किसी भी प्रकार से गड्ढा भरने की तरह साधु स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट अन्न जल के द्वारा पेट रूपी गड्ढे को भर देते हैं, इसलिए साधु की यह आहार चर्या गर्तपूरण या स्वभ्रभरण-वृत्ति कहलाती है।

गर्भकल्याणक—तीर्थकरो के गर्भ मे आने पर होने वाला एक उत्सव। इस अवसर पर इन्द्र आकर तीर्थकर के माता-पिता को भक्तिपूर्वक सिहासन पर बैठाकर उनका अभिषेक-सम्मान आदि करते है और तीर्थकर का स्मरण कर तीन प्रदक्षिणा देते है।

गर्भजन्म—माता के उदर मे रज और वीर्य के परस्पर मिश्रण को गर्भ कहते है। इस गर्भ को ही शरीर रूप से ग्रहण करके जीवो का उत्पन्न होना गर्भजन्म है। जरायुज, अण्डज और पोतज ये तीन गर्भजन्म के भेद है। गर्भजन्म मनुष्य और तिर्यच के ही होता है।

गर्हा—गुरु के समक्ष अपने दोष प्रकट करना गर्हा कहलाती है।

गारव—गर्व या बडप्पन को गारव कहते हैं। यह तीन प्रकार का

है—ऋद्धि-गारव, शब्द-गारव, सात-गारव या रस-गारव।

गिरिनार—गुजरात प्रान्त के जूनागढ मे स्थित एक पर्वत जहा तीर्थकर नेमिनाथ ने दीक्षा ग्रहण करके क्रमश केवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त किया। इसका दूसरा नाम उर्जयन्तगिरि भी है।

गुण—जो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से प्रथक् करता है उसे गुण कहते है। गुण सदा द्रव्य के आश्रित रहते हे अर्थात् द्रव्य की प्रत्येक अवस्था मे उसके साथ रहते है। प्रत्येक द्रव्य मे अनेक गुण होते हे। कुछ साधारण या सामान्य गुण होते हे और कुछ असाधारण या विशेष गुण। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व—ये सभी द्रव्यो मे पाए जाने वाले सामान्य गुण है (चेतना, ज्ञान, दर्शन आदि जीव के विशेष गुण है तथा रूप, रस, गध, स्पर्श आदि पुद्गल के विशेष गुण हे। गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व ओर अवगाहनत्व—ये क्रमश धर्म, अधर्म, काल और आकाश के विशेष गुण हें।)

गुणप्रत्यय—सम्यग्दर्शन से युक्त अणुव्रत और महाव्रत रूप गुण जिस अवधिज्ञान की उत्पत्ति मे प्रमुख है वह गुण-प्रत्यय-अवधिज्ञान कहलाता है। मनुष्य ओर तिर्यंचो के गुण-प्रत्यय-अवधिज्ञान ही सभव है।

गुणव्रत—जो गुणो को वढाने वाले व्रत है वे गुणव्रत कहलाते है या जो अणुव्रतो का उपकार करते है उन्हे गुणव्रत कहते हैं। दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत—ये तीन गुणव्रत है।

गुणश्रेणी-निर्जरा—जब कर्मो की निर्जरा प्रतिसमय क्रमश असख्यात-गुणी-असख्यात-गुणी हो तो इसे गुणश्रेणी-निर्जरा कहते है।

गुणस्थान—मोह और योग के माध्यम से जीव के परिणामो मे होने वाले उतार-चढाव को गुणस्थान कहते है। जीवो के परिणाम यद्यपि अनन्त है परन्तु उन सभी को चौदह श्रेणियो मे विभाजित किया गया हे। चौदह गुणस्थानो के नाम इस प्रकार है—मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि, अविरत-सम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्त-सयम, अप्रमत्त-सयत, अपूर्वकरण-शुद्धि-सयत, अनिवृत्तिकरण-शुद्धि-सयत, सूक्ष्म-साम्पराय-शुद्धि-सयत, उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोग-केवली-जिन और अयोग-केवली-जिन।

गुप्ति—ससार के कारणभूत रागादि से जो आत्मा की रक्षा करे उसे गुप्ति कहते है। अथवा सम्यक् प्रकार से योगो का निग्रह करना गुप्ति है। अथवा मन, वचन काय की स्वच्छद प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्ति है।

गुरु—गुरु शब्द का अर्थ महान् है। लोक मे अध्यापक व माता-पिता को गुरु कहते है। मोक्षमार्ग मे आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन गुरु है। अर्हन्त भगवान त्रिलोक गुरु है। शिष्यो को जिनदीक्षा या प्रव्रज्या देने वाले आचार्य को दीक्षा-गुरु कहते है। जो प्रायश्चित आदि देकर शिष्य को दोष-मुक्त करते है और वैराग्यजनक परमागम द्वारा शिष्य का पोषण करते है वे निर्यापक कहलाते है। उन्हे शिक्षा-गुरु या श्रुत-गुरु भी कहते है।

गुरुमूढता—हिसादिपाप-क्रियाओ मे और आरम्भ-परिग्रह मे लिप्त रहने वाले साधुओ को गुरु मानकर उनकी भक्ति, वदना, प्रशसा आदि करना गुरुमूढता है। इसे समय-मूढता भी कहते हैं।

गुरूपास्ति—आचार्य आदि वीतरागी गुरुओ की पूजा करना तथा उनकी सेवा मे सदा तत्पर रहना गुरूपास्ति है।

गृहीत-मिथ्यात्व—दूसरे के द्वारा मिथ्या उपदेश सुनकर जीवादि पदार्थो के विषय मे जो अश्रद्धान रूप भाव उत्पन्न होता है उसे गृहीत-मिथ्यात्व कहते है।

गोचरी—गृहस्वामी के द्वारा लायी गई घास को खाते समय जैसे गाय घास को ही देखती है लाने वाले के रूप रग या स्थान की सजावट आदि को नहीं देखती उसी प्रकार साधु भी आहार देने वाले के रूप-रग, गरीबी-अमीरी आदि को न देखते हुए आहार ग्रहण कर लेते है इसलिए साधु की आहार चर्या गोचरी-वृत्ति कहलाती है।

गोत्र कर्म—1 जिस कर्म के उदय से जीव उच्च और नीच कहा जाता है या उच्च और नीच कुल मे उत्पन्न होता है वह गोत्र-कर्म है। इसके दो भेद है—उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र।

ग्रामदाह—जिस ग्राम मे साधु आहार के लिए गए है यदि वहा अग्नि आदि का प्रकोप हो जाए तो यह ग्रामदाह नाम का अतराय है।

ग्रैवेयक—वैमानिक देवो के जो विमान पुरुष की ग्रीवा के समान है या जो लोक के ग्रीवा मे स्थित है वे ग्रैवयक विमान कहलाते है।

ग्लान—जिनका शरीर रोग आदि से पीडित हो उस साधु को ग्लान कहते है।

घ

घडी–चौबीस मिनिट की एक घडी होती है। दो घडी का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्त का एक दिन-रात होता है।

घातिया-कर्म–जीव के गुणो का घात करने वाले अर्थात् गुणो को ढकने वाले या विकृत करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय इन चार कर्मों को घातिया-कर्म कहते है।

घृतस्रावी ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ मे दिया गया रूखा-सूखा आहार तत्काल घी के समान रसवाला हो जाता है उसे घृतस्रावी या सर्पिस्रावी ऋद्धि कहते है।

घोरतप ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से ज्वर आदि से पीडित होने पर भी साधु अत्यन्त कठिन तप करने मे सक्षम होते हे वह घोर-तप ऋद्धि है।

घोर-पराक्रम-तप ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अनुपम तप करते हुए तीन लोक के सहार की शक्ति से सपन्न और सहसा समुद्र के जल को सुखा देने की सामर्थ्य से युक्त होते है वह घोर पराक्रम-तप-ऋद्धि है।

घोर-ब्रह्मचर्य-तप ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु सब गुणो से सपन्न होकर अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उसे घोर-ब्रह्मचर्य-तप ऋद्धि कहते हैं। इसके प्रभाव से साधु के समीप चौरादिक की बाधाएं और महायुद्ध आदि नहीं होते।

घ्राण-इन्द्रिय–जिसके द्वारा ससारी जीव गध का ज्ञान करते हैं उसे घ्राण-इन्द्रिय कहते है।

च

चक्रवर्ती–आर्य-खण्ड आदि छह खण्डो के अधिपति और वत्तीस हजार राजाओ के स्वामी को चक्रवर्ती कहते हैं। ये नौ निधियो और चौदह रत्नो के स्वामी होते हैं।

चक्षु-इन्द्रिय–जिसके द्वारा ससारी जीव पदार्थों को देखता है उसे चक्षु-इन्द्रिय कहते हे।

चक्षुदर्शन–चक्षु इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है वह चक्षुदर्शन है।

चतुरिन्द्रिय-जीव–जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रिया होती हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हे। जैसे–मक्खी, भौरा आदि।

चतुर्दशपूर्वी–जो साधु सपूर्ण आगम अर्थात् ग्यारह अङ्ग व चौदह पूर्व मे पारगत है और श्रुतकेवली कहलाते है उनके चतुर्दशपूर्वी नामक बुद्धि ऋद्धि होती है।

चतुर्मुखपूजा–राजाओ द्वारा जो सर्व कल्याणकारी महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुखपूजा कहते है। इसे सर्वतोभद्र पूजा भी कहते हे।

चतुर्विंशतिस्तव–जिसमे चौबीस तीर्थकरो की वदना करने की विधि, उनके नाम, सस्थान, ऊचाई, पाच कल्याणक, चौंतीस अतिशयो के स्वरूप और वदना की सफलता का वर्णन किया गया है वह चतुर्विंशतिस्तव नाम का अङ्ग-बाह्य कहलाता है।

चतुर्विध-संघ–मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन चारो के समुदाय को चतुर्विध-सघ कहते हे।

चन्द्रप्रज्ञप्ति–चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और विम्ब की ऊचाई आदि का वर्णन करने वाला चन्द्रप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म है।

चन्द्रप्रभ–अष्टम तीर्थकर। इनका जन्म इक्ष्वाकु वशी राजा महासेन और रानी लक्ष्मणा के यहा हुआ। इनकी आयु दस लाख वर्ष पूर्व और शरीर की ऊचाई एक सौ पचास धनुष थी। शरीर की आभा श्वेत थी। एक दिन शरीर की नश्वरता का चितन करते-करते विरक्त होकर गृहत्याग कर दिया और जिनदीक्षा ले ली। तीन माह तक कठिन तपस्या के उपरात इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके समवसरण मे दत्त आदि तेरानवे गणधर, लगभग तीन लाख मुनि, तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाए, तीन लाख श्रावक व पाच लाख श्राविकाए थी। इन्होने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

चपापुर–विहार प्रात की एक नगरी जहा तीर्थकर वासुपूज्य के पाचो कल्याणक हुए।

चरणानुयोग–जिसमें मुख्य रूप से गृहस्थ और मुनियो के व्रत, नियम और सयम का वर्णन किया गया हो वह चरणानुयोग हे। इस अनुयोग की कथन पद्धति का प्रयोजन यह है कि जीव पाप कार्य को छोडकर व्रत नि-ाम रूप धर्म कार्य मे लगे, कपाय को मद करे ओर क्रमश वीतराग-भाव को प्राप्त करे।

चरम-शरीर–चरम का अर्थ अंतिम है। जिस जीव को उसी भव से मोक्ष प्राप्त होना है उस जीव का शरीर चरम-शरीर कहलाता है।

चर्या-परीपह-जय–जो साधु अपने गुरु की आज्ञा से अतिथि की तरह एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करता है और मार्ग मे तीक्ष्ण ककड,

काटे आदि के विधने से उत्पन्न हुई पीडा को समता पूर्वक सहन करता हुआ अपने छह आवश्यको का पालन दृढता पूर्वक करता हे उस साधु के यह चर्या-परीषह-जय हे।

चल-दोष—जल मे उठने वाली तरगो के समान श्रद्धान का चलायमान होना चल-दोष है। जैसे जल मे अनेक लहरे उठती हैं और शात हो जाती है उसी प्रकार क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के मन मे अनेक विचार उठते है। यद्यपि सभी तीर्थकर या अर्हन्त भगवान एक समान होते है पर कभी ऐसा विचार आ जाता है कि श्री शांतिनाथजी शान्ति देने वाले ओर श्री पार्श्वनाथ जी विघ्न-बाधा दूर करने वाले है। यही क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का 'चल' नामक दोष है।

चलित-रस—घी, दूध, दही आदि रसो का स्वाद बिगड जाने पर उन्हे चलित-रस कहते है। चलित रस अभक्ष्य है।

चारित्र-मोहनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के असयम भाव होता है वह चारित्र-मोहनीय कर्म हे अथवा बाह्य मे पापो से निवृत्ति और अतरग मे कषाय का अभाव होना चारित्र है। जिस कर्म के उदय से जीव चारित्र को ग्रहण नहीं कर पाता वह चारित्र-मोहनीय कर्म कहलाता है। चारित्र मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—कषाय वेदनीय ओर नो कषाय वेदनीय। कषाय के सोलह भेद हैं—अनन्तानुबधी-क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान-क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान-क्रोध, मान, माया, लोभ, सज्वलन-क्रोध, मान, माया, लोभ। नो कषाय के नौ भेद हे—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद ओर नपुसक वेद।

चारित्र-विनय—महान आत्माओ के श्रेष्ठ चारित्र का वर्णन सुनते ही रोमांचित होकर अतरग भक्ति प्रकट करना, प्रणाम करना, मस्तक पर अजुलि रखकर आदर प्रकट करना और श्रद्धा-पूर्वक स्वय चारित्र के पालन करने मे तत्पर रहना चारित्र-विनय है।

चारित्राचार—पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति रूप सम्यक्-चारित्र का पालन करना चारित्राचार कहलाता है।

चिकित्सा-दोष—यदि साधु चिकित्सा के उपाय वताकर आहार प्राप्त करे तो यह चिकित्सा-दोष है।

चित्रा-पृथिवी—मध्यलोक की एक हजार योजन मोटी पृथिवी, चित्रा-पृथिवी कहलाती है। यह चित्र-विचित्र अनेक प्रकार की धातुओ, मृत्तिका, पाषाण और अनेक मणियो से युक्त हे इसलिए इसे चित्रा-पृथिवी कहते हे।

चूर्ण-दोष—यदि साधु शरीर की शोभा बढाने वाले विभिन्न प्रकार के चूर्णो की विधि बताकर आहार प्राप्त करे तो यह चूर्ण-दोष है।

चूलिका—जिसमे एक, दो या सव अनुयोग-द्वारो द्वारा कहे गये विषय की विशेष या संक्षिप्त जानकारी दी जाती है उसे चूलिका कहते हे। चूलिका के पाच भेद है—जलगता, आकाशगता, रूपगता, स्थलगता ओर मायागता।

चेतना—अनुभव रूप भाव का नाम चेतना है या जिस शक्ति के द्वारा आत्मा ज्ञाता-दृष्टा या कर्त्ता-भोक्ता होता है उसे चेतना कहते हे। चेतना जीव का स्वभाव है। चेतना तीन प्रकार की मानी गयी

ह—ज्ञान-चेतना, कर्म-चेतना, कर्मफल-चेतना।

चैत्यालय—जिनबिंब को चेत्य कहते हे। चेत्य के आश्रयभूत स्थान को जिनालय या चैत्यालय कहा जाता है। ये दो प्रकार के होते हे—कृत्रिम चैत्यालय और अकृत्रिम-चेत्यालय। मनुष्य लोक मे मनुष्यो के द्वारा निर्मित जिनमंदिर कृत्रिम-चैत्यालय कहलाते हे। शाश्वत स्वप्रतिष्ठित और सदेव प्रकाशित रहने वाले जिन-मंदिर अकृत्रिम-चेत्यालय कहलाते है।

चैत्यवृक्ष—जिस वृक्ष के आश्रित अर्हन्त प्रतिमाए होती हे उसे चेत्यवृक्ष कहते है। एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित आठ प्रातिहार्य से युक्त चार-चार मणिमय अर्हन्त प्रतिमाए होती है। समवसरण मे अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र—ऐसे चार प्रकार के चेत्यवृक्ष होते हे। इनकी ऊचाई अपने-अपने तीर्थकर से बारह गुनी होती हे।

चौर्यानन्द—तीव्र क्रोध व लोभ के वशीभूत होकर निरन्तर चोरी का विचार करना, चोरी का उपदेश देना, चोरी करके हर्षित होना, चोरी के माल का क्रय-विक्रय आदि करना चौर्यानन्द नाम का रोद्र-ध्यान है।

च्यावित—अकाल मरण के द्वारा जीव का जो शरीर असमय मे ही छूट जाता है वह च्यावित-शरीर हे।

च्युत—आयु पूर्ण हो जाने पर पके हुए फल के समान जीव का जो शरीर स्वत छूट जाता हे उसे च्युत-शरीर कहते हे।

छ

छद्मस्थ–ज्ञानावरणीय ओर दर्शनावरणीय को छद्म कहते है। उसमे जो रहते हे उन्हे छद्मस्थ कहते है। आशय यह हे कि जो जीव ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय आदि घातिया कर्मो से युक्त हे वे छद्मस्थ कहलाते है। केवलज्ञान होने से पूर्व सभी जीव छद्मस्थ या ससारस्थ है।

छर्दि–*आहार के समय यदि साधु को वमन हो जाए तो यह छर्दि नाम* का अन्तराय हे।

छाया–प्रकाश के आवरण रूप शरीरादि की जो परछाई पडती हे उसका नाम छाया हे। छाया दो प्रकार की हे–दर्पण मे बने प्रतिविव रूप ओर रगो से निर्मित आकृति या चित्र रूप।

छिन्न-निमित्त–किसी के द्वारा छेदे गये वस्त्र, शस्त्र आदि को देखकर तथा खण्डित भवन, नगर एव देश आदि को देखकर शुभ-अशुभ एव सुख-दु खादि को जान लेना छिन्न-निमित्तज्ञान कहलाता है।

छेद–पूर्व दीक्षा को छेदना अर्थात् दीक्षा को एक दिन, एक पक्ष, एक महीना आदि कम कर देना छेद नाम का प्रायश्चित हे। जो साधु व्रतो मे वार-वार दोप लगाता हे तथा सामर्थ्यवान ओर अभिमानी हे उसे छेद-प्रायश्चित दिया जाता है।

छेदोपस्थापना-चारित्र–1 प्रमादवश व्रतो मे दोष लग जाने पर प्रायश्चित आदि द्वारा उसका शोधन करके पुन व्रतो मे स्थिर होना

छेदोपस्थापना चारित्र है।2 निर्विकल्प साम्य अवस्था मे अधिक समय न रह पाने पर साधक विकल्प रूप अर्थात् भेद रूप मूलगुणो का आलम्बन लेता है यही छेदोपस्थापना-चारित्र है।

ज

जङ्घाचारण-ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु पृथिवी से चार अगुल ऊपर आकाश मे घुटनो को मोडे विना गमन करने मे समर्थ होते हे वह जङ्घाचारण-ऋद्धि कहलाती है।

जन्तु-वध–साधु के आहार करते समय किसी जीव-जन्तु आदि का घात हो जाने पर जन्तु-वध नाम का अन्तराय होता है।

जन्म–जीव के नवीन शरीर की उत्पत्ति होना जन्म कहलाता है। जीवो का जन्म तीन प्रकार से होता है–गर्भ-जन्म, सम्मूर्छन-जन्म और उपपाद-जन्म।

जन्म-कल्याणक–तीर्थकर के जन्म का उत्सव जन्मकल्याणक कहलाता हे। इस अवसर पर सोधर्म इन्द्र आदि सभी इन्द्र व देवगण भगवान का जन्मोत्सव मनाने बडी धूमधाम से पृथिवी पर आते है। कुबेर नगर की अद्‌भुत शोभा करता है। सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से इन्द्राणी भगवान की माता को मायामयी निद्रा मे सुलाकर बालक भगवान को लाती हे ओर इन्द्र की गोद मे देती हे। ऐरावत हाथी पर भगवान को लेकर इन्द्र सुमेरु पर्वत की ओर जाता है। वहा पहुचकर पाडुक शिला पर भगवान को विराजमान करके क्षीर समुद्र से लाए गए जल के द्वारा एक हजार आठ कलशो से अभिषेक करता हे फिर बालक भगवान को दिव्य-वस्त्राभूषणो से अलकृत कर उत्सवपूर्वक नगर मे लौट आता हे। इस अवसर पर इन्द्र भक्ति-भाव से नृत्य आदि विभिन्न आश्चर्यजनक लीलाए करता है।

जम्बूद्वीप–मनुष्य लोक के ठीक मध्य मे एक लाख योजन विस्तार वाला गोलाकार जम्बूद्वीप नाम का द्वीप हे। यह जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों मे विभक्त है। भरत, हेमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हेरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र है। जम्बूद्वीप के मध्य मे एक लाख योजन ऊचा सुमेरु पर्वत हे और जम्बूद्वीप को चारो ओर से घेरे हुए लवण समुद्र नाम का समुद्र है।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति–जम्बूद्वीप मे मनुष्य, तिर्यच आदि का तथा पर्वत, नदी, वेदिका, अकृत्रिम चैत्यालय आदि का वर्णन जिसमे किया गया हो उसे जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति कहते है।

जय-जिनेन्द्र–जैनो मे परस्पर विनय ओर प्रेमभाव प्रकट करने के लिए जय-जिनेन्द्र शब्द बोला जाता है।

जया-वाचना–जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गए सिद्धान्त के अर्थ की व्याख्या करना जया-वाचना कहलाती है।

जरायुज–रक्त ओर मास स बने जाल के समान आवरण को जरायु कहत है। गर्भ-जन्म लेने वाले जो जीव जरायु सहित उत्पन्न होते हे वे जरायुज कहलाते हे।

जलकाय–जलकायिक जीव से रहित जल का जलकाय कहत हे।

जलकायिक-जीव–जल ही जिसका शरीर हे एस एकेन्द्रिय जीव का जलकायिक-जीव कहते हे।

जलगता-चूलिका–जल म गमन करने और जलस्तम्भन आदि म कारणभूत मत्र, तत्र और तपश्चरण रूप अतिशय का जिसम वर्णन

होता है उसे जलगता-चूलिका कहते हे।

जलगालन–जल को उपयोग मे लेने से पहले स्वच्छ सफेद दुहरं छन्ने से छानना जलगालन कहलाता हे।

जल-जीव–जो जीव जलकायिक मे उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति मे जा रहा हे उसे जल-जीव कहते हे।

जल्लौषधि-ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के शरीर पर पसीने के माध्यम से संचित हुई धूल भी ओपधि रूप हो जाती हे उसे जल्लौषधि-ऋद्धि कहते हे।

जाति–माता के वश को जाति कहते है।

जाति नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ओर पञ्चेन्द्रिय कहलाता हे वह जाति नामकर्म हे।

जातिस्मरण–अपने पूर्व जन्म की किसी घटना विशेष का स्मरण हो आना जातिस्मरण कहलाता हे।

जानुव्यतिक्रम–यदि साधु घुटने के वरावर ऊचे काष्ठ आदि को लाघ कर आहार के लिए जाए तो यह जानुव्यतिक्रम नाम का अन्तराय हे।

जान्वध-परामर्श–यदि कारणवश साधु आहार के समय अपने घुटने के नीचे हाथ से स्पर्श करे तो यह जान्वध परामर्श नाम का अन्तराय है।

जिन–जिन्होने काम, क्रोध, मोह आदि विकारो को जीत लिया हे वे

जिन कहलाते है। जिन दो प्रकार के है—सकल जिन और देश-जिन। आचार्य, उपाध्याय और साधु देश-जिन है तथा अर्हन्त और सिद्ध भगवान सकल-जिन है।

जिनकल्पी—जिन्होंने राग, द्वेष और मोह को जीत लिया है जो उपसर्ग व परीषह को समतापूर्वक सहन करते है और जो जिनेन्द्र भगवान के समान विहार आदि चर्या करते है ऐसे उत्तम सहनन और सामायिक चारित्र के धारी महामुनि जिनकल्पी कहलाते है।

जिनबिंब—जिनेन्द्र भगवान की निरावरित, निर्विकार/वीतराग प्रतिमा को जिनबिंब कहते है।

जिनलिंग—जिनेन्द्र भगवान के समान अतरग मे वीतरागता और बाह्य मे परिग्रह से रहित निर्विकार यथाजात बालकवत् रूप धारण करना जिनलिंग या जिनमुद्रा कहलाती है।

जिनवाणी—सब जीवो के हित का उपदेश देने वाली श्री अर्हन्त भगवान की वाणी ही जिनवाणी कहलाती है। तत्त्व का स्वरूप बताने वाली यह जिनवाणी द्वादशाग रूप होती है।

जिनालय—देखिए—चेत्यालय।

जीव—जो जानता-देखता है उसे जीव कहते है। या जिसमे चेतना है वह जीव है। जीव दो प्रकार के है—ससारी जीव और मुक्त जीव। जो जीव ससार मे निरतर जन्म-मरण का दु ख भोग रहे है वे ससारी जीव है। जो जीव अपने आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर ससार से पार हो जाते है वे मुक्त-जीव कहलाते है।

जीवविपाकी—जिन कर्मो का विपाक अर्थात् फल मुख्यत जीव मे होता

है वे जीवविपाकी कर्म कहलाते है। इन कर्मों के उदय से जीव के ज्ञान-दर्शन आदि गुण ढक जाते है।

जीव-समास—जीव और उनके भेद-प्रभेदो का जिसमे सग्रह किया जाए उसे जीव-समास कहते है। चौदह जीव-समास प्रसिद्ध हे—एकेन्द्रिय वादर व सूक्ष्म (पर्याप्त-अपर्याप्त), द्वीन्द्रिय (पर्याप्त-अपर्याप्त), त्रीन्द्रिय (पर्याप्त-अपर्याप्त), चतुरिन्द्रिय (पर्याप्त-अपर्याप्त) एव पचेन्द्रिय-सज्ञी व असज्ञी (पर्याप्त-अपर्याप्त)।

जीव-सपात—आहार करते समय यदि साधु के दोनो पैरो के वीच मे कोई जीव गिर जाए तो यह जीव-सपात नाम का अन्तराय हे।

जीवानी—जल छानने के पश्चात् शेष बचे जल को सावधानी-पूर्वक उसी जलाशय मे डालना यह जीवानी कहलाती हे।

जुगुप्सा—घृणा या ग्लानि होना जुगुप्सा हे। जिस कर्म के उदय से अपने दोषो को ढकने और दूसरे के दोषो को प्रकट करने का भाव उत्पन्न होता है या दूसरे के प्रति घृणा होती हे वह जुगुप्सा नामक नो-कषाय है।

जुहार—परस्पर नमस्कार करने के लिए जुहार शब्द का प्रयोग किया जाता है। जुहार शब्द का अर्थ है युग के प्रारभ मे सर्व सकटो को हरने वाले और सव जीवो की रक्षा करने वाले भगवान ऋषभदेव को प्रणाम हो।

जैन—जिन्होने काम, क्रोध, मोह आदि विकारो को जीत लिया है वे जिन या जिनेन्द्र कहलाते है। जिनेन्द्र भगवान के उपासक को जैन

कहते है।

जैनदर्शन–जिसके द्वारा जीवन का ओर जीवन के विकास का ज्ञान प्राप्त किया जाए उसे दर्शन कहते है। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित दर्शन ही जेनदर्शन हे। जैनदर्शन आत्मा, परमात्मा और पुनर्जन्म मे विश्वास करता हे। जेनदर्शन के अनुसार आत्मा की परम-विशुद्ध अवस्था ही परमात्मा है जिसे प्रत्येक आत्मा अपने आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त कर सकता है।

जैनाचार–जिनेन्द्र भगवान के द्वारा जो श्रावक और साधु के योग्य आचरण का उपदेश दिया गया हे वह जैनाचार हे। जैनाचार का मूल आधार अहिसा है।

ज्ञात-भाव–'इसे मारना है, या इसे वचाना है'–इस प्रकार जानवूझकर प्रवृत्ति करना ज्ञात-भाव हे।

ज्ञातृधर्मकथाङ्ग–जिसमे अनेक आख्यान ओर उपाख्यानो का वर्णन है वह ज्ञातृधर्मकथाङ्ग है।

ज्ञान–जो जानता हे वह ज्ञान है या जिसके द्वारा जाना जाए वह ज्ञान है। या जानना मात्र ही ज्ञान है। ज्ञान जीव का विशेष गुण है। सम्यग्दर्शन के सद्भाव मे यह सम्यग्ज्ञान कहलाता हे और मिथ्यात्व के उदय मे यह मिथ्याज्ञान हो जाता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाच सम्यग्ज्ञान के भेद हे। कुमति, कुश्रुत और विभग-अवधिज्ञान ये तीन मिथ्याज्ञान है। इस प्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है।

ज्ञान-कल्याणक–तीर्थकरो के केवलज्ञान के अवसर पर होने वाला उत्सव ज्ञान-कल्याणक कहलाता है। इस अवसर पर सोधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुवेर समवसरण की रचना करता है जिसमे देव, मनुष्य और तिर्यंच जीव एक साथ वैठकर धर्मश्रवण करते है। तीर्थकर भगवान का विहार वडी धूमधाम से होता है। भगवान के श्रीचरणो मे देवगण तत्परता से सुवर्णमय कमलो की रचना करते जाते है। आगे-आगे धर्मचक्र चलता है। सारा मार्ग आठ दिव्य मगल द्रव्यो से शोभित होता रहता है। ऋषि/मुनि भगवान के पीछे-पीछे चलते है। परस्पर विरोध रखने वाले जीव भी विरोध भूल जाते है। अत्यन्त सुखद और आत्मीय वातावरण निर्मित हो जाता है।

ज्ञान-चेतना–केवलज्ञान रूप शुद्ध चेतना को ज्ञान-चेतना कहते है।

ज्ञानदान–धर्म से अनभिज्ञ जीवो के लिए धर्म का उपदेश देना तथा आत्म-ज्ञान के साधनभूत शास्त्रादि सुपात्र को देना ज्ञानदान कहलाता है।

ज्ञान-प्रवाद–जिसमे मति, श्रुत आदि पाच ज्ञानो और पाच इन्द्रियो के विभाग आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है वह ज्ञान-प्रवाद नाम का पाचवा पूर्व है।

ज्ञान-विनय–1 सम्यग्ज्ञान को अत्यत सम्मान-पूर्वक ग्रहण करना, उसका अभ्यास करना ओर उसका स्मरण रखना ज्ञान-विनय है। 2 ज्ञान में, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदि मे एव ज्ञानवान् पुरुषो मे भक्ति ओर आदर-भाव रखना तथा उनके अनुकूल आचरण करना ज्ञान-विनय है।

ठ

ठ ठ–स्थापित करना, पूजा के समय अपने हृदय मे भगवान का स्थापित करने के लिए ठ ठ शब्द का प्रयोग होता है।

ण

णमोकार-मंत्र–"णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूण"–यह णमोकार मत्र है। इसका अर्थ है–अर्हन्तो को नमस्कार हो, सिद्धो को नमस्कार हो, आचार्यो को नमस्कार हो, उपाध्यायो को नमस्कार हो और लोक मे सर्व साधुओ को नमस्कार हो। यह अनादि-निधन मंत्र है। षटखडागम ग्रथ के मगलाचरण के रूप मे आचार्य पुष्पदन्त एव भूतवलि स्वामी ने ईसा की पहली शताब्दी मे इसे प्राकृत भाषा मे पहली बार लिपिबद्ध किया।

त

तत्त्व–जिस वस्तु का जो भाव है वही तत्त्व है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूप मे अवस्थित है उसका उस रूप होना, यही तत्त्व शब्द का अर्थ है। तत्त्व सात है–जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष।

तत्त्ववती-धारणा–वारुणी धारणा के पश्चात् वह योगी सप्त धातु से रहित पूर्ण चद्र के समान निर्मल अपने आत्मा का ध्यान करता है, यह अंतिम तत्त्ववती-धारणा है।

तदाकार-स्थापना–धातु या पाषाण आदि मे तीर्थंकर आदि की वास्तविक आकार सहित मूर्ति बनाकर स्थापना करना तदाकार स्थापना कहलाती है।

तदुभय–1 दोपो को दूर करने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो एक साथ करना तदुभय नाम का प्रायश्चित हे। 2 अर्थ को ठीक-ठीक समझते हुए शुद्ध पाठ आदि पढना तदुभय नाम का ज्ञानाचार है।

तन्तुचारण ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु मकडी के ततु के ऊपर चरण रखते हुए उसे विना वाधा पहुचाये गमन करने मे समर्थ होते हे वह तन्तुचारण-ऋद्धि कहलाती हे।

तप–इच्छाओ का निरोध करना तप है। तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती हे। तप करने का उद्देश्य भी यही हे। तप दो प्रकार का है–वाह्य तप ओर आभ्यन्तर तप।

तप-प्रायश्चित—उपवास आदि तप के द्वारा अपने व्रतो मे लगे दोषो की शुद्धि करना तप नाम का प्रायश्चित है।

तप-विनय—तप मे और श्रेष्ठ तपस्वी जनो मे भक्ति और अनुराग रखना तथा जो छोटे तपस्वी है उनकी एव चारित्रवान् मुनियो की अवहेलना नहीं करना तप-विनय है।

तपाचार—उत्साहपूर्वक बारह प्रकार के तप का आचरण करना तपाचार है।

तप्त-तप ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के द्वारा खाया हुआ अन्न आदि मल मूत्र के रूप मे परिणत नही होता वह तप्त-तप ऋद्धि कहलाती है।

तर्क—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते है। जैसे जहा-जहा धूम है वहा-वहा अग्नि है और जहा-जहा अग्नि नही है वहा-वहा धूम भी नहीं है।

तादात्म्य-संबंध—जो निश्चय से समस्त अवस्थाओ मे जिस स्वरूपपने से व्याप्त रहे उसका उसके साथ तादात्म्य-सबध होता है जैसे—अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्य-सबध है। तादात्म्य सबध दो प्रकार का है—त्रैकालिक तादात्म्य और क्षणिक तादात्म्य। द्रव्य का अपने गुणो के साथ त्रैकालिक तादात्म्य होता है, जैसे—जीव का ज्ञान आदि अनन्त गुणो के साथ त्रैकालिक तादात्म्य है। द्रव्य का अपनी पर्यायो के साथ क्षणिक-तादात्म्य रहता है, जैसे—रागद्वेष आदि विकारी भावो के साथ जीव का क्षणिक तादात्म्य-सबध है।

तामसिक-दान–जिसमे पात्र-अपात्र का विवेक न किया गया हो, अतिथि का सत्कार न किया गया हो, जो निन्दनीय हो ओर सेवको से दिलाया गया हो, ऐसे दान को तामसिक-दान कहते हे।

तिर्यंच–पाप कर्म के उदय से जो तिरोभाव को प्राप्त होते हैं वे तिर्यच है। तिरोभाव का अर्थ है नीचे रहना, बोझा ढोना। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय, कीट पतग आदि विकलेन्द्रिय और जलचर, थलचर, नभचर आदि पचेन्द्रिय के भेद से तिर्यच अनेक प्रकार के होते हे। श्रेष्ठ जाति के हाथी, घोडे, सिह आदि तिर्यच जीवो मे अणुव्रत पालन करने की क्षमता रहती है।

तीर्थंकर–जिसके आश्रय से भव्य जीव ससार से पार उतरते हे वह तीर्थ कहलाता हे। तीर्थ का अर्थ धर्म भी हे। इसलिए तीर्थ या धर्म का प्रवर्तन करने वाले महापुरुष को तीर्थकर कहते हे। आत्मा मे तीर्थकर बनने के सस्कार मनुष्य-भव मे किन्हीं केवली भगवान या श्रुत-केवली महाराज के चरणो मे बेठकर दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओ के चिन्तवन से प्राप्त होते है। भरत ओर ऐरावत क्षेत्र मे चोवीस-चौवीस तीर्थकर होते हे। विदेह क्षेत्र मे सदा बीस तीर्थकर विद्यमान रहते हे।

तीर्थंकर नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को तीनो लोक मे पूज्यता प्राप्त होती है उसे तीर्थकर नामकर्म कहते हे अथवा जिस कर्म के उदय से जीव पाच कल्याणको को प्राप्त करके तीर्थ या धर्म का प्रवर्तन करता हे, उसे तीर्थकर नामकर्म कहते हे।

तीर्थ–जिसके आश्रय से भव्य जीव ससार स पार उतरते हे वह तीर्थ

कहलाता हे। तीर्थ का अर्थ धर्म भी है। धर्म की प्राप्ति मे सहायक श्री महावीर जी, श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ जी, श्री गोमटेश वाहुवली आदि अतिशय क्षेत्र और श्री सम्मेदशिखर जी, श्री पावापुरजी आदि निर्वाण क्षेत्र भी तीर्थ कहलाते है।

तीर्थयात्रा—अकार्य से निवृत्त होना यही तीर्थयात्रा है।

तृणस्पर्श-परीषह-जय—जो साधु चलते, वैठते या शयन करते समय सूखे तिनके, ककर, पत्थर, काटे आदि चुभने पर उत्पन्न होने वाली पीड़ा को समतापूर्वक सहन करते हे और जीव-रक्षा मे तत्पर रहते हैं उनके यह तृण-स्पर्श-परीषह-जय है।

तेजोलेश्या—जो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को जानता हो, सवमे समभाव रखता हो, दया ओर दान मे तत्पर हो, मृदुभाषी ओर ज्ञानी हो—ये सव तजो-लेश्या या पीत-लेश्या के लक्षण है।

तैजस-शरीर—स्थूल शरीर मे दीप्ति या तेज मे कारणभूत जो सूक्ष्म शरीर होता है उसे तेजस-शरीर कहते हे। यह दो प्रकार का ह—नि सरणात्मक तेजस और अनि सरणात्मक तेजस।

तैजस-समुद्घात—जीवो के अनुग्रह ओर विनाश मे समर्थ तेजस-शरीर का वाहर फेलना तैजस-समुद्घात कहलाता हे। यह नि सरणात्मक तेजस-शरीर हे जो दो प्रकार का हे—शुभ-तेजस ओर अशुभ तेजस।

त्यक्त-दोष—दाता के द्वारा दिए गए आहार मे से यदि साधु वहुत सा आहार नीचे गिराते हुए आहार ग्रहण करे या अधिक मात्रा मे दुग्ध आदि अजलि मे से गिरता हो तो वह त्यक्त नाम का दोष हे।

त्यक्त-शरीर–सल्लेखनापूर्वक जो शरीर छोडा जाता है उसे त्यक्त-शरीर कहते हैं।

त्याग–1 सचेतन और अचेतन समस्त परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हे। 2 परस्पर प्रीति के लिए अपनी वस्तु को देना त्याग हे। 3 सयमी जनो के योग्य ज्ञान आदि का दान करना त्याग कहलाता हे।

त्रस–जिनके त्रस नामकर्म का उदय है वे त्रस जोव कहलाते है। लोक मे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पचेन्द्रिय आदि जो जीव दिखाई देते है वे सभी त्रस जीव हे। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय जीवो को विकलेन्द्रिय कहते हे। पचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय कहलाते है।

त्रसघात–जिन पदार्थो के सेवन मे त्रस जीवो का घात होता हे ऐसे *मास, शहद आदि पदार्थ त्रसघात नामक अभक्ष्य कहलाते हैं।*

त्रस-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव द्वीन्द्रिय आदि रूप त्रस पर्याय मे जन्म लेता हे उसे त्रस-नामकर्म कहते है।

त्रसनाली–जिस प्रकार वृक्ष के मध्य मे सार भाग होता है उसी प्रकार लोक के मध्य-भाग मे एक राजू लम्बी-चौडी और कुछ कम तेरह राजू ऊची त्रसनाली है। त्रस जीव इस त्रसनाली के भीतर ही रहते हे, बाहर नहीं।

त्रीन्द्रिय-जीव–जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रिया होती है वे त्रीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे–चींटी आदि।

द

दम–इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना दम कहलाता है।

दया–दीन-दुखी जीवो के प्रति अनुग्रह या उपकार का भाव होना दया या करुणा है।

दर्शन–1 जो मोक्षमार्ग को दिखावे वह दर्शन है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सयम और उत्तम क्षमादि धर्म रूप है। अत बाह्य मे निर्ग्रथ और अतरग मे वीतरागी मुनि के रूप को दर्शन कहा है। 2 दर्शन का अर्थ मत है। 3 जिसके द्वारा देखा जाए उसे दर्शन कहते है या वस्तु के आकार-प्रकार को ग्रहण न करके जो मात्र निर्विकल्प रूप से सामान्य अवलोकन होता है उसे दर्शन कहते है। यही दर्शनोपयोग कहलाता हे जो निराकार होता है। इसके चार भेद है–चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

दर्शन-क्रिया–रागवश रमणीय रूप देखने का अभिप्राय होना दर्शन-क्रिया है।

दर्शन-प्रतिमा–निर्मल सम्यग्दर्शन के साथ अष्टमूलगुण का पालन करना और सप्त व्यसन का त्याग करना यह श्रावक की पहली दर्शन-प्रतिमा है।

दर्शनमोहनीय कर्म–जिस कर्म के उदय से सच्चे देव शास्त्र गुरु के प्रति अश्रद्धान होता है या श्रद्धान की अस्थिरता होती है वह दर्शन मोहनीय कर्म है। यह तीन प्रकार का है–सम्यक्त्व, मिथ्यात्व ओर सम्यग्मिथ्यात्व।

दर्शनविनय–शकादि दोषो से रहित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना ओर सच्चे देव शास्त्र गुरु की पूजा भक्ति आदि मे तत्पर रहना दर्शन-विनय हे।

दर्शन-विशुद्धि–सम्यग्दर्शन का अत्यत निर्मल व दृढ होना दर्शन-विशुद्धि कहलाती हे। सोलह-कारण-भावना मे यह प्रथम भावना हे। इसके होने पर ही तीर्थकर प्रकृति का वध सभव होता है।

दर्शनाचार–नि शंकित आदि आठ अङ्ग युक्त सम्यग्दर्शन का पालन करना अर्थात् उस रूप आचरण करना दर्शनाचार कहलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव का दर्शन गुण आवरित हो जाता है उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हे। यह नौ प्रकार का हे–चक्षु-दर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि।

दशवैकालिक–जिसमें साधुओ की आचार-विधि और गोचर-विधि अर्थात् आहार-चर्या की विधि का वर्णन हो उसे दशवेकालिक कहते हे।

दशमशक-परीषह-जय–मच्छर, मक्खी, चींटी आदि के द्वारा पीडा पहुचाये जाने पर जो साधु उसे समता पूर्वक सहन कर लेता है उसके यह दशमशक-परीषह-जय है।

दान–परोपकार की भावना से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान कहलाता है। दान चार प्रकार का हे–आहार-दान, ओषधि-दान, उपकरण या ज्ञान-दान और अभयदान। दान के चार भेद ओर भी

हे—करुणा-दान या दया-दत्ति, पात्र-दत्ति, समदत्ति ओर सकल-दत्ति। भावो की अपेक्षा दान तीन पकार का हे—राजसिक, तामसिक ओर सात्विक।

दानान्तराय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव दान देने की इच्छा करता हुआ भी दान नहीं दे पाता वह दानान्तराय कर्म हे।

दायक दोष—जो मदिरापान आदि व्यसन करता हो, रोगी हो, अतिवाल या अतिवृद्ध हो, अशुद्ध हो, ऐसा अयोग्य दाता यदि साधु को आहार देता है तो यह दायक नाम का दोष हे।

दिगम्वर साधु—जो वस्त्र आभूषण आदि समस्त परिग्रह का त्याग करके वालकवत् निर्विकार निर्ग्रथ रूप धारण करते हे ओर इन्द्रिय-विजयी होते हे वे दिगम्बर-साधु कहलाते हे।

दिग्व्रत—जीवन-पर्यत दशो दिशाओ की सीमा करके 'मे इससे वाहर नहीं जाऊगा'—ऐसा सकल्प करना दिग्व्रत कहलाता हे।

दिव्यध्वनि—केवलज्ञान होते ही अर्हन्त भगवान के मुख से जो सव जीवो का कल्याण करने वाली ओकार रूप वाणी खिरती है उसे दिव्यध्वनि कहते हे। यह सर्वभाषाओ से युक्त होती हे ओर मनुष्य, तिर्यंच आदि सभी की भाषा मे सुनाई देती हे। तीर्थंकर के समवसरण मे सुवह, दोपहर, शाम और अर्धरात्रि के समय छह-छह घडी तक दिव्य ध्वनि खिरती है। इसके अतिरिक्त गणधर, इन्द्र या चक्रवर्ती आदि के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर शेष समयो मे भी दिव्यध्वनि खिरती है।

दीक्षा-कल्याणक—तीर्थकर की दीक्षा के अवसर पर होने वाला उत्सव दीक्षा या तप कल्याणक कहलाता है। तीर्थकरों को वैराग्य उत्पन्न होते ही लौकान्तिक देव आकर उनके वैराग्य की प्रशसा करते है। इन्द्र उनका अभिषेक करके उन्हे वस्त्राभूषण से अलकृत करता है। कुबेर द्वारा निर्मित पालकी मे भगवान स्वय बैठ जाते है। इस पालकी को पहले तो मनुष्य कधो पर लेकर कुछ दूर पृथिवी पर चलते है फिर देव उसे आकाश मार्ग से ले जाते है। तपोवन मे पहुचकर समस्त वस्त्राभूषणो को त्यागकर तीर्थकर केशलुचन करके दिगम्बर मुद्रा धारण कर लेते है। इन्द्र केशो को एक मणिमय पिटारे मे रखकर क्षीरसागर मे विसर्जित करता हे। 'नम सिद्धेभ्य' कहकर तीर्थकर स्वय दीक्षा ले लेते है, वे स्वय जगद्गुरु है। अपना नियम पूरा होने पर वे आहार-चर्या के लिए नगर मे जाते हे ओर विधिपूर्वक आहार लेते हे। आहार देने वाले दाता के घर मे रत्नवृष्टि आदि पच-आश्चर्य होते हैं।

दीप्त-तप-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से निरतर उपवास करने पर भी साधु के शरीर की दीप्ति बढती ही जाती हे वह दीप्त-तप ऋद्धि कहलाती हे।

दुर्भग-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव रूपादि गुणो से युक्त होकर भी अप्रीतिकर लगता हे उसे दुर्भग-नामकर्म कहते हे।

दु.ख—पीडा रूप आत्मा का परिणाम ही दु ख है। दु ख चार प्रकार का है—भूख, प्यास आदि से उत्पन्न स्वाभाविक दु ख, सर्दी गर्मी आदि से उत्पन्न नैमित्तिक दुख, रोगादि से उत्पन्न शारीरिक दुख तथा वियोग आदि से उत्पन्न मानसिक दुख।

दुःश्रुति–जिन शास्त्रो या पुस्तको मे हसी-मजाक, कामभोग आदि मन को कलुषित करने वाली बातो का वर्णन किया गया हो उनको पढना या सुनना अथवा दूसरे के दोषो की चर्चा करना या सुनना दु श्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

आर्यिका, एक श्रावक और एक श्राविका शेष रह जाते है। प्रथम ग्रास ग्रास जाने पर मुनिराज अन्तराय मानकर निराहार रह जाते है और अवधिज्ञान के द्वारा पचमकाल का अत जानकर चारो जीव समाधिपूर्वक देह का त्याग कर देते है। असुर जाति के देव क्रोध से भरकर अंतिम कल्की को समाप्त कर देते है। इस तरह पचमकाल पूर्ण होता है। उत्सर्पिणी के इस द्वितीय काल के प्रारभ मे मनुष्यो की आयु बीस वर्ष और ऊचाई साढे तीन हाथ होती है, जो क्रम से उत्तरोत्तर बढती जाती है। इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण इस द्वितीय काल के एक हजार वर्ष शेष रहने पर कुलकरो की उत्पत्ति होने लगती है। कुलकर मनुष्यो को अग्नि जलाने, अन्न पकाने आदि की प्रक्रिया सिखाते है और अंतिम कुलकर के समय मे विवाह आदि की पद्धति भी प्रचलित हो जाती है।

दु षमा-दु षमा—अवसर्पिणी के छठवें और उत्सर्पिणी के प्रथम काल का नाम दु षमा-दु षमा है। अवसर्पिणी के इस छठे काल मे मनुष्यो की अधिकतम आयु बीस वर्ष ओर ऊचाई साढे तीन हाथ रहती है। मनुष्यो का नेतिक पतन होने से वे पशुवत् आचरण करने लगते है। मनुष्य नग्न अवस्था मे वनो मे घूमते हुए अत्यन्त दीन-हीन, दरिद्र ओर पीडित जीवन जीते हे। इनकी आयु, वल, ऊचाई आदि सभी क्रमश हीन-हीन होते जाते हे। इस छठे काल के अत मे अर्थात् उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर अत्यन्त भयानक प्रलय आती हे। अत्यत शीतल जल, क्षार जल, विष, धुआ, धूलि, वज्र ओर अग्नि—ऐसी सात प्रकार की वृष्टि सात-सात दिन तक होने से यह प्रलय का क्रम उनचास दिन तक लगातार चलता हे। इस

प्रलय के समय विजयार्ध की गुफाओ मे जो बहत्तर कुलो मे उत्पन्न दीन-हीन स्त्री-पुरुष तथा कुछ तिर्यच जीव शेष बच जाते है उनकी ऊचाई मात्र एक हाथ और आयु पद्रह-सोलह वर्ष होती है। उत्सर्पिणी के इस प्रथम काल के प्रारम्भ मे जल, दूध, अमृत, रस आदि सात प्रकार के सुखदायी मेघो की वृष्टि सात-सात दिन तक होने से उनचास दिन मे सारी पृथिवी शीतल और लता गुल्म आदि से समृद्ध हो जाती है। शीतल सुगध का अनुभव होने से मनुष्य और तिर्यच गुफाओ से बाहर निकल आते है और वृक्षो के मूल, फल, पत्ते आदि खाकर जीवन-यापन करने लगते है। आयु, वल, तेज आदि उत्तरोत्तर बढते जाते है। इस काल का प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है।

दु.षमा-सुषमा—अवसर्पिणी के चतुर्थकाल और उत्सर्पिणी के तृतीय काल का नाम दु षमा-सुषमा है। अवसर्पिणी के इस चतुर्थकाल मे मनुष्य असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प—इन षट् कर्मो के द्वारा अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करते है। मनुष्यो की अधिकतम आयु एक पूर्व कोटि और ऊचाई पाच सौ धनुष प्रमाण होती है। इस काल मे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थकर और अन्य महापुरुष जन्म लेते है। उत्सर्पिणी के इस तृतीय काल के प्रारभ मे मनुष्यो की आयु एक सो वीस वर्ष और ऊचाई सात हाथ होती हे। मनुष्य मर्यादा, विनय, लज्जा आदि श्रेष्ठ गुणो से सपन्न होते हे। इस काल मे शेष सभी वाते अवसर्पिणी के चतुर्थकाल के समान होती हे। विशेषता यह है कि मनुष्यो की आयु, वल, तेज आदि उत्तरोत्तर बढते जाते है।

दु स्वर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से गधा, ऊट आदि के समान

देवमूढ़ता—वरदान पाने की आशा से रागी-द्वेषी देवी-देवताओ को सच्चे देव मानकर पूजा-अर्चना करना देवमूढता है।

देवर्षि—आकाशगमन ऋद्धि से सम्पन्न साधु को देवर्षि कहते हैं। कामसेवन से रहित होने के कारण लोकान्तिक-देव भी देवर्षि कहलाते हैं।

देवावर्णवाद—'स्वर्गलोक मे रहने वाले देवी-देवता सुरापान करते हैं और मास खाते है'—इस प्रकार देवगति के देवो पर मिथ्या आरोप लगाना यह देवावर्णवाद है।

देशना-लब्धि—समीचीन धर्म का उपदेश देना देशना है। देशना देनेवाले आचार्य आदि की प्राप्ति होना तथा उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण और विचारण की सामर्थ्य प्राप्त होना देशना-लब्धि कहलाती हे।

देशव्रत—श्रावक के द्वारा दिग्व्रत मे जो आवागमन की सीमा की जाती है उसमे भी प्रतिदिन या चार माह आदि के लिए आवागमन की सीमा कम कर लेना देशव्रत कहलाता है।

देशसत्य—नियत समय के लिए जो वचन अलग-अलग प्रान्त, नगर या ग्राम आदि मे प्रचलित होता है या विभिन्न भाषाओ मे बोला जाता है उसे देशसत्य कहते हे। जैसे—भात को चोरू, कूल, भक्त आदि कहा जाता है।

द्रव्य—गुण और पर्याय के समूह को द्रव्य कहते है या जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य छह हे—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

द्रव्य-कर्म–जीव के शुभाशुभ भावो के निमित्त से बधने वाले सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धो को द्रव्य-कर्म कहते है। ये आठ प्रकार के है–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

द्रव्यत्व–जिसके द्वारा द्रव्य का द्रव्यपना अर्थात् एक पर्याय से दूसरी पर्याय रूप परिणमन निरतर बना रहता है वह द्रव्यत्व-गुण है।

द्रव्य-निक्षेप–आगामी पर्याय की योग्यता वाले उस पदार्थ को जो उस समय उस पर्याय के अभिमुख हो, द्रव्य कहते है। द्रव्य का आगामी या पूर्व पर्याय की अपेक्षा कथन करना द्रव्य-निक्षेप कहलाता है। जैसे–आगे सेठ बनने वाले बालक को सेठ कहना या जो राजा दीक्षित होकर मुनि अवस्था मे विद्यमान है, उन्हे अभी भी राजा कह देना।

द्रव्य-परिवर्तन–द्रव्य-परिवर्तन के दो भेद है–नो कर्म द्रव्य-परिवर्तन ओर कर्म द्रव्य-परिवर्तन। इसे पुद्गल-परिवर्तन भी कहते है। नो कर्मद्रव्य-परिवर्तन–किसी एक जीव ने औदारिक, वैक्रियिक या आहारक इन तीनो शरीरो और आहार आदि छह पर्याप्तियो के योग्य पुद्गलो को एक समय मे ग्रहण किया फिर वे पुद्गल स्कध द्वितीयादि समय मे निर्जीण हो गए तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनन्त वार ग्रहण करके उस जीव ने छोडा, मिश्र परमाणुओ को अनन्त बार ग्रहण करके छोडा और बीच मे गृहीत परमाणुओ को अनन्त बार ग्रहण करके छोडा तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम ग्रहण किए गए वे ही परमाणु उसी प्रकार से पुन नो कर्म (शरीर) के रूप मे प्राप्त होते है तब यह सब मिलकर एक नो कर्म द्रव्य-परिवर्तन कहलाता है। कर्म द्रव्य-परिवर्तन–ससारी जीव निरतर कर्मवध करता

रहता है चूंकि आयुकर्म सदा नहीं बधता अत ज्ञानावरणीय आदि शेष सात कर्मो के योग्य पुद्गल स्कधो को वह प्रति समय ग्रहण करता हे और उन्हे भोगकर छोड देता है। इस प्रक्रिया मे वह अनन्त बार अगृहीत परमाणुओ को ग्रहण करके छोड देता है, मिश्र परमाणुओ को अनन्त बार ग्रहण करके छोडता है और अनन्त बार गृहीत परमाणुओ को ग्रहण करके छोडता है। तत्पश्चात् जब उस जीव के द्वारा सर्वप्रथम ग्रहण किए गए वे ही परमाणु उसी प्रकार से पुन कर्म रूप मे परिणत होते हैं तब यह सब मिलकर एक कर्म द्रव्य-परिवर्तन कहलाता है। तात्पर्य यह है कि पुद्गल परिवर्तन रूप ससार मे अनेक बार भ्रमण करता हुआ जीव सभी पुद्गलो को क्रम से भोगकर छोडता रहता है।

द्रव्य-पूजा—पच परमेष्ठी के सम्मुख भक्ति-भाव से गन्ध, पुष्प, धूप व अक्षत आदि श्रेष्ठ अष्ट द्रव्य समर्पित करना द्रव्य-पूजा हे।

द्रव्य-लिंग—देखिए लिग।

द्रव्य-श्रुत—भावश्रुत के आश्रय से उत्पन्न होने वाले वचनात्मक श्रुत को द्रव्य-श्रुत कहा जाता हे या अक्षर रूप जिनवाणी को द्रव्य-श्रुत कहते है।

द्रव्य-सामायिक—चेतन-अचेतन द्रव्यो मे इष्ट-अनिष्ट रूप विकल्प नहीं करना द्रव्य-सामायिक हे।

द्रव्य-स्तव—शुभ लक्षणो से युक्त चोवीस तीर्थकरो के शरीर की छवि का कीर्तन करना द्रव्य-स्तव कहलाता हे।

द्रव्यानुयोग–जिसमे मुख्य रूप से जीव-अजीव तत्त्व का, पुण्य-पाप और वन्ध-मोक्ष का विवेचन किया गया है वह द्रव्यानुयोग है। इस अनुयोग की कथन पद्धति का प्रयोजन यह है कि जो जीव, तत्त्व के वास्तविक स्वरूप से अपरिचित होने के कारण आपा-पर के भेद विज्ञान से वंचित है वे तत्त्व को पहचाने और उसका अभ्यास करे, जिससे मोक्षमार्ग मे रुचि बढे।

द्रव्यार्थिक-नय–जो पर्याय को गौण करके द्रव्य को मुख्य रूप से अनुभव करावे वह द्रव्यार्थिक नय है। यह वस्तु को जानने का एक दृष्टिकोण है जिसमे वस्तु के विशेष रूपो से युक्त सामान्य रूप को दृष्टिगत किया जाता है। जैसे–मनुष्य, देव, तिर्यच आदि विविध रूपो मे रहने वाले एक जीव सामान्य को देखना या कहना कि यह सब जीव द्रव्य हे।

द्रव्येन्द्रिय–जो निर्वृत्ति और उपकरण रूप है तथा वाहर दिखाई पडती हे उसे द्रव्येन्द्रिय कहते है। इसमे जो इन्द्रिय के निश्चित आकार आदि की रचना हे वह निर्वृत्ति कहलाती हे और जो निर्वृत्ति के लिए सहायक हे वह उपकरण हे। जेसे–चक्षु इन्द्रिय का जो निश्चित आकार है वह निर्वृत्ति है तथा जो सफेद और काला गोलक व पलके है वह उपकरण हे।

द्वादशाङ्ग–श्रुत के वारह अङ्ग आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरोपपादिक दशाङ्ग, प्रश्नव्याकरणाङ्ग, विपाकसूत्राङ्ग ओर दृष्टिप्रवादाङ्ग ही द्वादशाङ्ग हे। द्रव्यश्रुत रूप द्वादशाङ्ग की रचना गणधर करते हे। इसे ही जिनवाणी कहते हे।

द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व--उपशम श्रेणी चढने वाले साधु को क्षयोपशम सम्यग्दर्शन से पुन जो उपशम-सम्यक्त्व प्राप्त होता हे उस द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन कहते हे। यह सम्यग्दर्शन अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो कषायो की विसयोजना और मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व, इन तीन कर्म प्रकृतियो के उपशम से होता है।

द्विदल–मूग, चना, उडद आदि जिस धान्य के दो दल अर्थात् दो भाग हो जाते है उसे दही या छाछ के साथ मिलाने पर वह द्विदल कहलाता है। इसे अभक्ष्य माना है।

द्वीन्द्रिय-जीव–जिनके स्पर्शन व रसना–ये दो इन्द्रिया होती हें वे द्वीन्द्रिय-जीव कहलाते है। जैसे–इल्ली, कृमि आदि।

द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति–जिसमे द्वीप ओर समुद्रो का प्रमाण तथा द्वीप व समुद्र के अन्तर्भूत अन्य वस्तुओ का भी वर्णन किया गया हे वह द्वीप-सागर- प्रज्ञप्ति है।

द्वेष–अप्रीति या वेरभाव होना द्वेष हे। क्रोध, मान, अरति, शोक, जुगुप्सा, भय ये सभी द्वेष के ही विविध रूप हे।

ध

धर्म–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही धर्म है। या जो जीवों को संसार के दुःखों से बचाकर मोक्ष सुख में पहुचावे, वह धर्म है। अथवा वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। धर्म दो प्रकार का है–व्यवहार धर्म और निश्चय धर्म। दान, पूजा, शील, जप, तप, त्याग आदि व्यवहार धर्म है तथा परिणामों की निर्मलता, समता या वीतरागता निश्चय-धर्म है।

धर्मचक्र–तीर्थंकर के समवसरण मे स्थित पीठिका पर जो सूर्य के बिंब के समान देदीप्यमान चक्र शोभित होते है वे धर्मचक्र कहलाते है। ये समवसरण मे चारो दिशाओं मे होते है। हजार आरो वाले ये धर्मचक्र देवो से रक्षित होते है।

धर्म-द्रव्य–जो जीव व पुद्गल के गमन मे सहायक है उसे धर्म-द्रव्य कहते है। यह द्रव्य सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है। यह अचेतन और अरूपी है। इसका कार्य जल की तरह है जो मछली को गमन करने में सहायक है।

सी अस्सी हाथ थी। शरीर स्वर्ण के समान आभा वाला था। पाच लाख वर्ष तक राज्य करने के उपरात उल्कापात देखकर इन्हे वैराग्य हो गया। अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर इन्होंने जिनदीक्षा ले ली। एक वर्ष तक तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। इनके सघ मे अरिष्टसेन आदि तेतालीस गणधर, चौसठ हजार मुनि, बासठ हजार आर्यिकाए, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाए थीं। इन्होंने सम्मेद शिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

धर्मानुप्रेक्षा–जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए वीतराग धर्म के बिना यह जीव अनादि काल से दुख का अनुभव करते हुए ससार मे भ्रमण कर रहा है। धर्म को धारण करने वाले जीव को उत्तम सुख की प्राप्ति होना निश्चित है। इस प्रकार धर्म-भावना का बार-बार चिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है।

धर्मानुराग–धर्म मे स्थिर रहना और विपत्ति आने पर भी धर्म से विमुख नहीं होना धर्मानुराग है।

धर्मावर्णवाद–'जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया अहिसा धर्म गुणकारी नहीं है, इसका पालन करने वाले जीव असुर होते है'–इस प्रकार धर्म की निन्दा करना धर्म-अवर्णवाद है।

धर्मोपदेश–जिससे जीवो को उत्तम सुख की प्राप्ति हो ऐसे वीतराग धर्म का उपदेश देना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है।

धात्री-दोष–जो बालक का पालन-पोषण करे वह धाय कहलाती है। यदि साधु धाय सबधी कार्यो का उपदेश देकर आहार प्राप्त करता है तो यह धात्री दोष है।

धारणा–1 जाने हुए पदार्थ को कालान्तर मे नहीं भूलना धारणा नाम का मतिज्ञान हे। 2 पच-नमस्कार मत्र व जिनप्रतिमा के आलम्बन से मन को एकाग्र करना धारणा नाम का ध्यान है। ध्यान के लिए पाच प्रकार की धारणाए प्रसिद्ध है। (देखिए पिडस्थ-ध्यान)

धूमदोष–यदि साधु निदा या ग्लानि करते हुए आहार ग्रहण करे तो यह धूम-दोष हे।

ध्याता–शुभ ध्यान करने वाले साधक को ध्याता कहते है।

ध्यान–चित्त की एकाग्रता का नाम ध्यान है। यह चार प्रकार का हे–आर्तध्यान, रोद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आर्तध्यान और रोद्रध्यान ससार को बढाने वाले होने से अशुभ है। धर्मध्यान व शुक्लध्यान मोक्ष-प्राप्ति मे सहायक होने से शुभध्यान हे।

ध्येय–ध्यान के आलम्बन को ध्येय कहते हे। ध्येय चेतन-अचेतन दोनो प्रकार के हो सकते हे, जो जीव के शुभ-अशुभ परिणाम मे निमित्त वनते हे।

ध्रुव-अवग्रह–जो यथार्थ ग्रहण निरतर होता हे वह ध्रुव अवग्रह हे। आशय यह हे कि जेसा प्रथम समय मे शव्द आदि का ज्ञान हुआ था, आगे भी वेसा ही होता रहता हे, कम या ज्यादा नहीं होता यह ध्रुव-अवग्रह हे।

ध्रौव्य–द्रव्य की स्वभाव रूप स्थिरता का नाम ध्रोव्य हे।

न

नन्दा-वाचना–विविध मत-मतान्तरों का निराकरण करते हुए सत्य-धर्म को स्थापित करने वाली व्याख्या नन्दा-वाचना कहलाती है।

नन्दीश्वर-द्वीप–यह मध्यलोक का आठवा द्वीप है। इस द्वीप में चारों दिशाओं मे चार अंजनगिरि-पर्वत, सोलह वापिया, सोलह दधिमुख और चोसठ रतिकर-पर्वत है। यहा कुल बावन जिनालय हैं जिनमें रत्न और स्वर्णमय भव्य प्रतिमाएं है। प्रतिवर्ष देवों द्वारा फाल्गुन आषाढ और कार्तिक मास के आष्टाह्निक पर्व में वहां अभिषेकपूर्वक नन्दीश्वर आदि महापूजा होती है।

श्राविकाए थीं। इन्होने सम्मेद-शिखर म मा-। प्राप्त किया।

नय—वस्तु के अनेक धर्मो मे से किसी एक धर्म को सापेक्ष रूप से कथन करने की पद्धति को नय कहते है। अथवा ज्ञाता और वक्ता के अभिप्राय को नय कहते है। वास्तव मे, अनन्त धर्मात्मक होने के कारण वस्तु अत्यत जटिल हे। उसे जाना जा सकता है परतु आसानी से कहा नही जा सकता। उसे कहने के लिए वस्तु का विश्लेषण करके एक-एक धर्म को क्रमश निरूपित करने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है ऐसी स्थिति मे वक्ता वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य करके और शेष धर्मो को गौण करके सापेक्ष रूप से कथन करता है और इस तरह वस्तु को पूर्णत जानना आसान हो जाता हे। यही नय का कार्य है। नय के दो भेद हे—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय अथवा निश्चय नय और व्यवहार नय। नेगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत—ये भी सात नय हे।

नरक—जो जीवो को शीत, उष्ण आदि वेदनाओ से निरतर आकुलित करते रहते है वह नरक कहलाते है। अथवा पापी जीवो को अत्यत दुख प्राप्त कराने वाले नरक हे। अथवा जिस स्थान मे जीव रमते नहीं है अर्थात् परस्पर प्रेम-भाव को प्राप्त नही होते वह नरक कहलाते है।

कहलाती है।

नाग्न्य-परीषह-जय–हिसा आदि दोषो से रहित निष्परिग्रह रूप जो बालकवत् सहज निर्विकार नग्नता है वह मोक्ष का अनिवार्य साधन है। इस नग्न दिगम्बर रूप को धारण करने वाले जो साधु कामविकार को जीत लेते हैं और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वह उनका नाग्न्य-परीषह-जय है।

नाभ्यधोनिर्गम–आहार के लिए जाते हुए साधु को यदि नाभि से नीचा मस्तक करके निकलना पड़े तो यह नाभ्यधोनिर्गम नाम का अंतराय कहलाता है।

नाम-सामायिक–प्रिय-अप्रिय नाम आदि सुनकर हर्ष या विषाद नहीं करना यह नाम-सामायिक है।

नाम-स्तव–अर्हन्त भगवान का एक हजार आठ नामो से स्तवन करना नाम-स्तव कहलाता है।

नारद–ये कलह और युद्ध के प्रेमी होते है। एक स्थान की बात दूसरे स्थान तक पहुचाने मे सिद्धहस्त होते है। जटामुकुट, कमण्डलु, यज्ञोपवीत, गेरुआ वस्त्र और वीणा आदि धारण करते है। वाल-ब्रह्मचारी होते है। धर्म कार्य मे तत्पर रहते हुए भी हिसा व कलह आदि मे रुचि रखने के कारण नरकगामी होते हैं। जिनेन्द्र-भक्ति के प्रभाव से शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते है।

नाराच-सहनन–जिस कर्म के उदय से शरीर मे हड्डियो की सधिया परस्पर नाराच अर्थात् कील से जुडी होती है वह नाराच-सहनन नामकर्म है।

नारायण–अपने पूर्वभव में जो जीव रत्नत्रय की आराधना करके विशिष्ट पुण्य का सचय करता है लेकिन लोभवश आगामी भोगो की आकाक्षा रूप निदान करके स्वर्ग में उत्पन्न होता है और वहा से च्युत होकर मनुष्यो मे तीन खण्ड राज्य के अधिपति के रूप मे उत्पन्न होता है। यह तीन खण्ड राज्य का स्वामी ही नारायण कहलाता हे। नारायण के चक्र, गदा, खड्ग, शक्ति, धनुष, शख ओर महामणि–ये सात रत्न ओर अपार वेभव होता हे। एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल मे नौ नारायण होते हे। नारायण वलभद्र के छोटे भाई होते हे। हिसा का समर्थन करने से नरक जाते हे लेकिन भव्य होने के कारण शीघ्र

ही मोक्ष प्राप्त कर लेते है।

निकाचित—जीव के द्वारा वाधे गए जिस कर्म का अपकर्षण, उत्कर्षण और सक्रमण होना सभव नहीं है वह निकाचित-कर्म कहलाता हे। यह कर्म आवाधाकाल पूरा होने पर उदय मे आकर अवश्य ही फल देता है। विशेषता यह है कि जिनविव के दर्शन से कर्मों का निकाचितपना नष्ट हो सकता है।

निक्षिप्त-दोष—यदि साधु सचित्त जल, पृथिवी, हरे पत्ते आदि के ऊपर रखी आहार सामग्री ग्रहण कर ले तो यह निक्षिप्त दोष है।

निक्षेप—नाम स्थापना आदि के द्वारा वस्तु मे भेद करने के उपाय को निक्षेप कहते है। या जो अनिर्णीत वस्तु का निर्णय कराये उसे निक्षेप कहते है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार निक्षेप हैं। लोक-व्यवहार मे एक ही वस्तु के लिए नाम आदि चारो निक्षेप देखने मे आते हैं, जैसे—किसी व्यक्ति का नाम सेवक हे। किसी सेवक का चित्र भी सेवक कहलाता हे। जो सेवाकार्य से निवृत्त है या आगे सेवा कार्य करेगा, वह भी सेवक माना जाता है। जो वर्तमान मे सेवाकार्य कर रहा है वह भी सेवक है।

निगोद—जो अनन्तो जीवो को एक निवास दे उसे निगोद कहते है। आशय यह है कि एक ही साधारण शरीर मे जहा अनन्तो जीव निवास करते है वह निगोद है। निगोद मे स्थित जीव दो प्रकार के है—नित्यनिगोद और चतुर्गति निगोद।

नित्य-निगोद—जिन्होने कभी भी त्रस-पर्याय को प्राप्त नहीं किया और जो सदाकाल से निगोद मे ही है वे जीव नित्य-निगोद कहलाते हैं।

नित्य पूजा—प्रतिदिन जिनालय में गध पुष्पादि सामग्री के द्वारा भक्ति भाव से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करना नित्य पूजा या सदार्चन कहलाता हे।

निदान—'मुझे भविष्य मे इस वस्तु की प्राप्ति हो'—ऐसा सकल्प करना निदान कहलाता है। यह तीन प्रकार का है—प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत। सयम की साधना के लिए परलोक मे उत्तम शरीर, दृढ परिणाम और योग्य सामग्री प्राप्त हो ऐसी भावना रखना प्रशस्त निदान हे। अभिमानवश उत्तम कुल, वश या उत्तम पदवी की कामना करना अप्रशस्त निदान है अथवा क्रोधित होकर मरण के समय शत्रु के वध की इच्छा करना अप्रशस्त निदान है। परलोक मे भोग-विलास की उत्तम सामग्री मिले, ऐसी आकाक्षा करना भोगकृत-निदान है।

निदान-आर्तध्यान—विशेष प्रीतिवश या तीव्र कामादि वासना से प्रेरित होकर त्याग-तपस्या के फलस्वरूप परलोक मे इन्द्रिय-सुख मिले, ऐसी आकाक्षा निरन्तर करना निदान नाम का आर्तध्यान है। इसमे परलोक सबधी इन्द्रिय-सुखो की प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता बनी रहती है। यह आर्तध्यान देशव्रती श्रावक की अवस्था तक ही सभव है। मुनिजनो को यह आर्तध्यान नहीं होता।

निदान-शल्य—देखे, सुने और अनुभव में आए हुए भोगो मे निरतर चित्त को लगाए रखना निदान-शल्य है।

निद्रा—मद, खेद व परिश्रम-जन्य थकावट को दूर करने के लिए शयन या विश्राम करना निद्रा हे। निद्रा कर्म के उदय मे जीव अल्प-काल सोता हे ओर उठाए जाने पर जल्दी उठ जाता हे।

निद्रा-निद्रा–निद्रा की पुनरावृत्ति होना निद्रा-निद्रा है। निद्रा-निद्रा कम के उदय मे जीव वृक्ष की डाल पर, विषम भूमि पर या जहा कहीं भी अत्यत गहरी नींद मे सोता हे।

निधत्ति–जीव के द्वारा वाधे गए जिस कर्म का उत्कर्षण या अपकर्षण तो सभव है, पर सक्रमण होना सभव नहीं है उसे निधत्ति कर्म कहत हे। इतना अवश्य हे कि जिनविव के दर्शन से कर्मो का निधत्तिपना नष्ट हो जाता है।

निन्दा–स्वय अपने दोषो को प्रगट करना या उनका पश्चात्ताप करना निन्दा कहलाती है।

निवद्ध-मंगल–ग्रन्थ के प्रारभ मे ग्रथकार के द्वारा जो स्तुतिपरक श्लोक आदि के रूप मे भगवान को नमस्कार किया जाता हे वह निवद्ध-मगल कहलाता हे।

निमित्त-कारण–जो कार्य के होने मे सहयोगी हो या जिसके बिना कार्य न हो उसे निमित्त-कारण कहते हे। कुछ निमित्त धर्मद्रव्य आदि के समान उदासीन होते है और कुछ गुरु आदि के समान प्रेरक भी होते है। उचित निमित्त के होने पर तदनुसार ही कार्य होता हे।

निमित्त-ज्ञान–तीनो काल सबधी शुभाशुभ का ज्ञान करने के लिये अतरिक्ष, भोम, अङ्ग, स्वर, व्यजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न ये आठ निमित्त होते है। इन आठ निमित्तो द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान होना निमित्त-ज्ञान कहलाता है।

निमित्त-दोष–यदि साधु निमित्त-ज्ञान के द्वारा शुभाशुभ फल बताकर आहार प्राप्त करे तो यह निमित्त नामक दोष है।

नियतिवाद–जो जब, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से, जिसका नियम से होना होता है वह तब ही, तिसके द्वारा, तिस प्रकार से होता है–ऐसा मानना नियतिवाद नाम का एकान्त मिथ्यात्व है।

नियम–भोग-उपभोग की सामग्री का थोडे समय के लिए त्याग करना नियम कहलाता है।

निर्ग्रंथ–1 धन-धान्यादि परिग्रह को ग्रन्थ कहते है अत जो समस्त बाह्य और अंतरग परिग्रह से रहित है वे निर्ग्रंथ साधु कहलाते है। 2 अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त जिन्हे केवलज्ञान प्रगट होने वाला है वे निर्ग्रथ कहलाते है।

निर्जरा–जिस प्रकार आम आदि फल पककर वृक्ष से पृथक् हो जाते है, उसी प्रकार आत्मा को भला-बुरा फल देकर कर्मों का झड जाना निर्जरा है। यह दो प्रकार की है–सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

निर्जरानुप्रेक्षा–जीव के पूर्वबद्ध कर्म अपना फल देकर झड जाते है–ऐसी सविपाक निर्जरा सभी जीवो के निरतर होती रहती है। विशेष तप के द्वारा की गयी अविपाक निर्जरा केवल सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक और मुनियो के होती है जो जीव को ससार के दुखो से मुक्त करती है। इस प्रकार निर्जरा के गुणदोषो का चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा कहलाती है।

निर्देश–विवक्षित वस्तु के स्वरूप का कथन करना निर्देश कहलाता है।

निर्माण नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्ग और उपाङ्गो

की रचना होती है उसे निर्माण-नामकर्म कहते है। चक्षु आदि अवयवो के स्थान और प्रमाण आदि का निर्धारण भी निर्माण नामकर्म के उदय से होता है।

निर्माल्य—मत्रोच्चार या अभिप्रायपूर्वक सच्चे देव शास्त्र गुरु के सम्मुख चढाई गई वस्तु निर्माल्य कहलाती है। निर्माल्य दो प्रकार का होता है—देव-द्रव्य और देव-धन। जो नैवेद्य, जल, चदन आदि द्रव्य भगवान के सम्मुख अर्पित की जाती है वह देव-द्रव्य रूप निर्माल्य है। यदि चढाने वाला इस सामग्री को स्वय प्रसाद रूप मे ग्रहण करे या अन्य किसी को प्रसाद की तरह दे तो उसके अन्तराय कर्म का बध होता है। मंदिर के जीर्णोद्धार, जिनविब-प्रतिष्ठा, वेदी-प्रतिष्ठा, जिन-पूजन और रथोत्सव आदि धर्म कार्य के लिए जो दान-राशि प्रदान की जाती है वह देवधन रूप निर्माल्य है। जो लोभवश निर्माल्य ग्रहण करता है वह नरकगामी होता है।

निर्यापक—सल्लेखना धारण कराने वाले आचार्य को निर्यापक या निर्यापकाचार्य कहते है। योग्य-अयोग्य आहार को जानने वाले, प्रायश्चित-ग्रथ के रहस्य को जानने वाले, आगम के ज्ञाता और स्व-पर के उपकार मे तत्पर आचार्य ही निर्यापक होने के योग्य हैं। एक क्षपक की सल्लेखना के लिए अधिकतम अडतालीस निर्यापक होते है और कम से कम दो निर्यापक भी सल्लेखना के कार्य को सभाल सकते है। जिनागम में एक निर्यापक का किसी भी काल मे उल्लेख नहीं है। यदि एक ही निर्यापक होगा तो सल्लेखना का महान कार्य निर्विघ्न सपन्न नहीं हो सकता।

निर्वाण—आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था का नाम निर्वाण है अथवा

निर्वाण का अर्थ विनाश है, अत सर्व कर्मों का विनाश होना ही निर्वाण है। या जहा पीडा, बाधा, जन्म, मरण आदि नहीं है वही निर्वाण है।

निर्वाण-कल्याणक–तीर्थकरो के निर्वाण के अवसर पर होने वाला उत्सव निर्वाण-कल्याणक कहलाता है। आयु पूर्ण होने के अंतिम समय मे भगवान योग-निरोध करके ध्यान के द्वारा शेष सर्व कर्मो का क्षय कर देते हैं और आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था मे स्थित हो जाते हैं। देवगण भगवान के निर्वाण-कल्याणक की पूजा करते है। भगवान का शरीर कपूर की भांति उड जाता है। इन्द्र उस स्थान पर भगवान् के लक्षणो से युक्त सिद्धशिला का निर्माण करता है।

निर्विकृति–जिह्वा एव मन मे विकार उत्पन्न करने वाले गोरस आदि को विकृति कहा जाता है अथवा जिस आहार को परस्पर मिलाने से विशेष स्वाद उत्पन्न होता है उसे विकृति कहते है। विकृति से रहित छाछ आदि को निर्विकृति कहते है।

निर्विचिकित्सा–जो रत्नत्रय से पवित्र है ऐसे मुनिजनो के मलिन शरीर को देखकर घृणा नहीं करना और उनके गुणो के प्रति प्रीति रखना यह सम्यग्दर्शन का निर्विचिकित्सा अङ्ग है।

निर्वृत्तिअपर्याप्त–पर्याप्ति नामकर्म के उदय से युक्त जीव के जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती उतने काल तक उसे निर्वृत्ति-अपर्याप्त कहते हैं।

निर्वेजनी-कथा–ससार, शरीर और भोगो से वैराग्य उत्पन्न कराने वाली कथा को निर्वेजनी कथा कहते है।

निश्चय-काल—वर्तना जिसका लक्षण हे वह निश्चय-काल हे। निश्चय काल ही वस्तु के परिणमन मे निमित्त कारण है। इसी के आधार पर समय, निमेष, दिन, रात, मास, वर्ष आदि रूप व्यवहार-काल जाना जाता है।

निश्चय-चारित्र—रागादि विकल्पो से रहित होकर आत्मस्वरूप मे लीन होना निश्चय-चारित्र हे। शुक्लध्यान, वीतराग-चारित्र, शुद्धोपयोग, उपेक्षासयम, सर्वपरित्याग, उत्सर्ग या निश्चय-चारित्र ये एकार्थवाची हैं।

निश्चय-नय—जो अभेद रूप से वस्तु का निश्चय करता है वह निश्चय नय है। निश्चय नय वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमे कर्ता, कर्म आदि भाव एक-दूसरे से भिन्न नहीं होते। यह दो प्रकार का है—शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। निरुपाधि गुण और गुणी मे अभेद दर्शाने वाला शुद्ध निश्चय नय हे। जैसे केवलज्ञानादि ही जीव है अर्थात् केवलज्ञानादि जीव का स्वभावभूत लक्षण है। इस नय की दृष्टि से जीव निज शुद्ध भावो का कर्ता और वीतराग परम आनद का भोक्ता है। सोपाधिक गुण और गुणी मे अभेद दर्शाने वाला अशुद्ध निश्चय-नय है। जेसे—मतिज्ञान आदि ही जीव हे। इस नय की दृष्टि से जीव, राग-द्वेष-मोह रूप भावकर्मो का कर्ता है और उस भावकर्म के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले हर्ष विषाद आदि रूप सुख-दुख का भोक्ता हे।

निश्चय-मोक्षमार्ग—जो निज शुद्ध आत्म-तत्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान ओर आचरण रूप हे वह निश्चय-मोक्षमार्ग हे।

निश्चय-सम्यग्दर्शन—रागादि से भिन्न निज शुद्धात्मा ही उपादेय है—ऐसी रुचि या श्रद्धान होना निश्चय-सम्यग्दर्शन है। यह निश्चय-चारित्र का अविनाभावी है अर्थात् निश्चय-चारित्र के बिना निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता।

निश्चय-सम्यग्ज्ञान—समस्त रागादि विकल्पो से रहित शुद्धात्मस्वरूप का वेदन या अनुभव करना निश्चय-सम्यग्ज्ञान है या स्वसवेदन ज्ञान को निश्चय-सम्यग्ज्ञान कहते है।

निषद्या-परीषह-जय—श्मशान, उद्यान, गुफा आदि मे रहते हुए जो साधु वीरासन आदि आसन विशेष मे स्थित होकर आत्म ध्यान मे लीन रहते है और उपसर्ग आदि आने पर भी आसन से विचलित नहीं होते, उनके यह निषद्या-परीषह-जय है।

निषिद्धिका—वहुत प्रकार के प्रायश्चित आदि का वर्णन करने वाले शास्त्र को निषिद्धिका कहते हैं।

निषीधिका—अर्हन्त आदि के निर्वाण क्षेत्र तथा मुनिराज आदि के समाधिस्थल को निषीधिका कहते है।

निष्ठीवन—आहार करते समय साधु के मुख मे कफ आदि आ जाने पर निष्ठीवन नाम का अतराय होता है।

निसर्ग-क्रिया—पापादान आदि रूप प्रवृत्ति के लिए सम्मति देना निसर्ग-क्रिया है।

निसर्गज-सम्यग्दर्शन—जो परोपदेश के विना सहज उत्पन्न होता है उसे निसर्गज-सम्यग्दर्शन कहते है।

निसही–प्रवेश की सूचना के लिए प्रयुक्त शब्द। साधु को जब जिनमंदिर मठ या गुफा आदि मे प्रवेश करना हो तो वहा रहने वाले भूत, यक्ष, नाग आदि से 'निसही' इस शब्द को बोलकर प्रवेश करना चाहिए। इसी तरह वहा से निकलना हो तो 'असही' इस शब्द को बोलकर निकलना चाहिए।

नि काक्षित–इन्द्रिय सुखो की आकाक्षा छोडकर सम्यग्दृष्टि जीव मोक्ष की प्राप्ति के लिए तप आदि अनुष्ठान करता है यह उसका नि काक्षित गुण है।

नि·शकित–अर्हन्त भगवान वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं इसलिए उनके द्वारा कहे गए मोक्ष और मोक्षमार्ग के स्वरूप मे सम्यग्दृष्टि जीव सशय नहीं करता यह उसका नि शंकित गुण है।

नि सरणात्मक-तैजस–जीवो के अनुग्रह या विनाश करने मे समर्थ जो तैजस-शरीर साधु के स्थूल शरीर से बाहर निकलता हे उसे नि सरणात्मक तैजस शरीर कहते है। यह दो प्रकार का है प्रशस्त-नि सरणात्मक-तैजस और अप्रशस्त-नि सरणात्मक-तैजस।

निःसृत–वस्तु के पूर्णत प्रगट होने पर ही उसका ज्ञान होना नि सृत-अवग्रह है। जैसे जलमग्न हाथी के पूर्णत बाहर आने पर ही उसका ज्ञान हो पाना।

नीच-गोत्र–जिस कर्म के उदय से जीव का जन्म लोकनिन्दित अर्थात् हिसक, दुराचारी, दु ख से पीडित, दरिद्र कुल मे हो उसे नीच-गोत्र कहते हैं।

नील-लेश्या–विषयो मे आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेकशून्य, मन्द, आलसी, कायर, प्रचुर माया प्रपच मे सलग्न, निद्रालु, लोभ से अध, धन-सपत्ति आदि सुख का इच्छुक और आहारादि सज्ञाओ मे आसक्त जीव नील लेश्या वाला है। ये सब नील लेश्या के लक्षण है।

नेमिनाथ–बाइसवे तीर्थकर। ये यादववश के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। रानी शिवादेवी इनकी मा थीं। इनकी आयु एक हजार वर्ष थी। शरीर की ऊचाई दस धनुष और आभा नीलमणि के समान थी। अपने विवाह की तैयारी मे म्लेच्छ राजाओ के भोजन के लिए हरिणो का समूह बधन मे बधा देखकर वे विवाह किए बिना ही विरक्त हो गए ओर जिनदीक्षा ले ली। छप्पन दिन तक तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। इनके समवसरण मे वरदत्त आदि ग्यारह गणधर, अठारह हजार मुनि, चालीस हजार आर्यिकाए, एक लाख श्रावक व तीन लाख श्राविकाए थीं। इन्होने गिरिनार (उर्जयन्त) पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया। इनका दूसरा नाम अरिष्टनेमी भी था। श्रीकृष्ण इनके चचेरे भाई थे।

नैगमनय–निगम का अर्थ सकल्प है। अत अनिष्पन्न अर्थ मे सकल्प मात्र को ग्रहण करके कथन करने वाला नैगमनय है। आशय यह हे कि जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ है भविष्य मे उत्पन्न होने वाला है ऐसे पदार्थ मे जो सकल्प मात्र को ग्रहण करता है उसे नैगमनय कहते हे। जैसे ईंधन, जल आदि लाते हुए किसी व्यक्ति से कोई पूछता हे कि आप क्या कर रहे है, तो वह कहता है कि भात पका रहा हू। उस समय भात पका नहीं है केवल भात पकाने का सकल्प किया गया हे। इसलिए उसका यह कहना कि 'भात पका रहा हू' लोक-व्यवहार मे सत्य माना जाता है। इसी प्रकार जितना भी

लोक-व्यवहार है वह सब नैगमनय का विषय है।

नैष्ठिक-श्रावक—जो श्रद्धापूर्वक व्रत, सामायिक आदि ग्यारह प्रतिमाओं में से एक-दो या सभी प्रतिमाए ग्रहण करता है वह नैष्ठिक-श्रावक कहलाता है।

नो-कर्म—कर्म के उदय से प्राप्त होने वाला औदारिक आदि शरीर जो जीव के सुख-दु ख मे निमित्त बनता है वह नो-कर्म कहलाता है।

नो-कर्माहार—शरीर की स्थिति मे निमित्तभूत और पुण्य रूप जो असाधारण अनन्त परमाणु प्रतिक्षण अर्हन्त भगवान के शरीर से सबध को प्राप्त होते है उसे नो-कर्माहार कहते हैं। अर्हन्त भगवान के एकमात्र नो-कर्माहार ही होता है।

नो-कषाय—ईषत् या अल्प कषाय का नो-कषाय कहते है। जिस कर्म के उदय से जीव हास्य आदि का वेदन करता है वह नो-कषाय-वेदनीय कर्म है। इसके नौ भेद है—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद।

न्यग्रोधपरिमडल-सस्थान—बड के पेड को न्यग्रोध कहते है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बड के पेड के समान नाभि के ऊपर मोटा ओर नीचे पतला होता है उसे न्यग्रोधपरिमडल-सस्थान कहते है।

प

पञ्च-परमेष्ठी–जो परम-पद मे स्थित है वे परमेष्ठी कहलाते हैं। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु–ये पञ्च परमेष्ठी है।

पञ्चम-काल–देखिए दुषमा।

पञ्चमेरु–देखिए सुमेरु।

पञ्चाङ्ग-नमस्कार–जो शरीर के पांच अङ्गो अर्थात् दोनो हाथ, दोनो घुटने और सिर को भूमि से लगाकर नमस्कार किया जाता है उसे पञ्चाङ्ग-नमस्कार कहते है।

पञ्चाचार–अपनी शक्ति के अनुसार सम्यग्दर्शन आदि की निर्मलता के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसे आचार कहते है। दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार ओर वीर्याचार–यही पञ्चाचार है।

पञ्चेन्द्रिय–जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाचो इन्द्रिया होती है वे पञ्चेन्द्रिय जीव कहलाते है। देव, नारकी, मनुष्य तथा जलचर, थलचर, नभचर आदि कुछ तिर्यंच जीव पञ्चेन्द्रिय होते हैं।

पण्डित-पण्डित-मरण–केवली भगवान के निर्वाण को पण्डित-पण्डित-मरण कहते है।

पण्डित-मरण–महाव्रती साधु का सल्लेखनापूर्वक होने वाला मरण, पण्डित-मरण कहलाता है। यह तीन प्रकार का है–भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन।

पतन–आहार लेते समय यदि साधु मूर्छा आदि आने से भूमि पर गिर पडते है तो यह पतन नाम का अतराय है।

पदस्थ-ध्यान–एक अक्षर से प्रारम्भ करके अनेक प्रकार के पचपरमेष्ठी वाचक पवित्र मत्रपदो का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता हे उसे पदस्थ-ध्यान कहते है जैसे–एकाक्षरी मत्र–ॐ, दो अक्षर वाला–अर्हं या सिद्ध, चार अक्षर वाला–अरहत, पचाक्षरी मत्र–णमो सिद्धाण, नम सिद्धेभ्य आदि।

पदानुसारी ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अपने गुरु के उपदेश से एक बीज पद को सुनकर समस्त ग्रन्थ को जानने मे समर्थ होते है उसे पदानुसारी ऋद्धि कहते हैं।

पदार्थ–जो जाना जाये या निश्चय किया जाए उसे अर्थ या पदार्थ कहते है। मोक्षमार्ग मे जानने योग्य जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप–ये नौ पदार्थ है।

पद्मप्रभ–छठवे तीर्थकर। इनका जन्म इक्ष्वाकुवश के राजा धरण और रानी सुसीमा के यहा हुआ। इनकी आयु तीस लाख वर्ष पूर्व थी ओर शरीर दो सो पचास धनुष ऊचा था। सोलह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व आयु शेष रहने पर इन्होने ससार से विरक्त होकर जिनदीक्षा ले ली। छह मास की कठोर तपस्या के फलस्वरूप इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके सघ मे एक सौ दस गणधर, तीन लाख तीस हजार मुनि, चार लाख बीस हजार आर्यिकाए, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्राविकाए थीं। इन्होने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

पद्मलेश्या–जो त्यागी हो, भद्र हो, सच्चा हो, उत्तम कार्य करने वाला

हो, क्षमावान् हो, साधुओ की पूजा-अर्चना और सेवा मे तत्पर हो वह जीव पद्मलेश्या वाला है। ये सब पद्मलेश्या के लक्षण है।

परघात-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर मे दूसरे जीवो का घात करने मे निमित्त-भूत पुद्गल का सचय होता है उसे परघात-नामकर्म कहते है। जेसे सर्प की दाढो मे विष, बिच्छू का डक, सिह, चीता आदि मे तीक्ष्ण नख व दात; धतूरा आदि विषैले वृक्ष।

परमर्षि–विश्वदृष्टा अर्हन्त भगवान परमर्षि कहलाते है।

परमाणु–पुद्गल द्रव्य के अविभागी अश को परमाणु कहते है। परमाणु एक प्रदेशी होता है। सभी परमाणुओ मे स्पर्श, रस, गध व वर्ण आदि गुण पाए जाते है। परमाणु की उत्पत्ति स्कन्ध से होती है।

परमात्मा–सर्व दोषो से रहित शुद्ध-आत्मा को परमात्मा कहते है। परमात्मा के दो भेद हैं–सकल-परमात्मा अर्थात् अर्हन्त भगवान और निकल-परमात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान।

परमार्थ–1 परम का अर्थ यहा मोक्ष है अत मोक्ष ही जिसका प्रयोजन हे वह परमार्थ हे। 2 जिसमे आत्म-हित और लोक-हित दोनो निहित हे वह परमार्थ कहलाता है।

परमावगाढ़-सम्यग्दर्शन–केवलज्ञान के द्वारा प्रकाशित जीवादि पदार्थ-विषयक ज्ञान से जिनकी आत्मा विशुद्ध है वे परमावगाढ रुचि सम्यग्दृष्टि हे। इनका सम्यग्दर्शन ही परमावगाढ-दर्शन है।

परलोक-भय–'परभव मे न मालूम मेरा क्या होगा'–ऐसा भय होना परलोक-भय हे।

परसमय–परसमय का अर्थ मिथ्यादृष्टि या वहिरात्मा हे। जो जीव कर्मोदय जनित मनुष्य आदि रूप पर्यायो मे लीन हैं उन्हे परसमय कहा गया है। अथवा जो जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से पर पदार्थो को निज रूप मानता हे वह परसमय हे।

परावर्त-दोष–अपने साधारण चावल आदि दूसरे को देकर वदले मे दूसरे से वढिया चावल आदि लेकर साधु को आहार देना यह परावर्त नामक दोष है।

परिकर्म–जिसमे गणित विषयक करण-सूत्र उपलब्ध होते हैं वह परिकर्म कहलाता हे। परिकर्म के पाच भेद हैं–चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्वूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति ओर व्याख्या-प्रज्ञप्ति।

परिग्रह–'यह मेरा हे, मै इसका स्वामी हू', इस प्रकार का ममत्व भाव ही परिग्रह हे। यह दो प्रकार का हे–अतरग परिग्रह तथा वाह्य परिग्रह। रागादि रूप अतरग परिग्रह चौदह प्रकार का है–मिथ्यात्व, चार कषाए और नो नो-कषाय। वाह्य वस्तुओ के ग्रहण व सग्रह रूप बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है–क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, कुप्य (वस्त्र), भाड (वर्तन) ओर शय्यासन।

परिग्रह-त्याग-प्रतिमा–आरभ-त्याग नामक आठवीं प्रतिमा धारण करने के उपरात देनिक उपयोग मे आने वाली वस्तुओ और पूजा के उपकरणो को छोडकर शेष समस्त परिग्रह का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर देना, यह श्रावक की नौवी परिग्रह-त्याग-प्रतिमा कहलाती है।

परिग्रह-परिमाण-व्रत–धन-धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करके

आदि पर्याप्तियो की पूर्णता होती है उसे पर्याप्त-नामकर्म कहते है।

पर्याय–द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते है। पर्याय एक के बाद दूसरी इस प्रकार क्रमश होती है। अत पर्याय को क्रमभावी या क्रमवर्ती कहा जाता है। पर्याय दो प्रकार की होती है–अर्थ-पर्याय और व्यजन-पर्याय। ये स्वभाव और विभाव रूप होती है।

पर्यायार्थिक-नय–जो द्रव्य को गौण करके मुख्य रूप से पर्याय को अनुभव करावे वह पर्यायार्थिक-नय है। जैसे–'कुण्डल लाओ'–यह कहने पर व्यक्ति कडा आदि नहीं लाता क्योंकि कुण्डल रूप पर्याय ही उसे इष्ट है। सारा लोक-व्यवहार इसी नय की दृष्टि से चलता है।

पर्व–धर्म-सचय की कारणभूत अष्टमी आदि विशेष तिथियो को पर्व कहते है।

पश्चात्स्तुति–यदि साधु आहार ग्रहण करने के बाद दाता की प्रशसा करता है तो यह पश्चात्स्तुति नामक दोष है।

पाक्षिक-श्रावक–मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव की वृद्धि करना तथा हिसा का त्याग करना यही जैनो का पक्ष है। इसलिए जो जिनेन्द्र भगवान के प्रति श्रद्धा रखते हुए हिसा आदि पाच पापो का त्याग करने की प्रतिज्ञा लेता है उसे पाक्षिक-श्रावक कहते है।

पाणिजन्तुवध–आहार ग्रहण करते समय यदि साधु की अजुलि में चींटी आदि जीव मर जाता है तो यह पाणिजन्तुवध नाम का अतराय है।

पाणिपिण्ड-पतन–आहार करते समय यदि साधु की अजलि से ग्रास आदि गिर जाता है तो यह पाणिपिण्ड पतन नाम का अतराय है।

परीषह-जय—भूख-प्यास आदि वेदना के होने पर कर्मो की निर्जरा के लिए उसे समतापूर्वक सहन कर लेना परीषह-जय कहलाता है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन—ऐसे बाईस परीषह होते हैं।

परोक्ष-ज्ञान—जो इन्द्रिय, मन एव प्रकाश आदि की सहायता से होता है उसे परोक्ष-ज्ञान कहा जाता है। वास्तव मे यह इन्द्रिय-ज्ञान है। लोक-व्यवहार मे यह प्रत्यक्ष की भाँति होने से साव्यवहारिक-प्रत्यक्ष भी कहलाता है। मति व श्रुत—ये दोनो परोक्ष-ज्ञान है।

पर्याप्तक—जिस प्रकार गृह वस्त्रादि अचेतन पदार्थ पूर्ण और अपूर्ण दोनो प्रकार के होते है उसी प्रकार जीव भी पूर्ण व अपूर्ण दोनो प्रकार के होते हैं। जो जीव अपने योग्य पर्याप्तिया पूर्ण कर लेते है वे पर्याप्तक कहलाते है जो पर्याप्तिया पूर्ण नहीं कर पाते वे अपर्याप्तक कहलाते है।

पर्याप्ति—आहार, शरीर आदि की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते है। जन्म स्थान मे प्रवेश करते ही जीव वहा अपने शरीर के योग्य कुछ पुद्गल परमाणुओ रूप आहार ग्रहण करता है फिर अपने योग्य शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा और मन का निर्माण करता है। यही छह पर्याप्तिया होती है। जीव अपने योग्य पर्याप्तियो का प्रारभ एक साथ करता हे लेकिन पूर्णता क्रमश होती है। सभी पर्याप्ति पूर्ण होने मे एक अन्तर्मुहूर्त लगता है।

पर्याप्त-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीवो के आहार, शरीर, इन्द्रिय

आदि पर्याप्तियो की पूर्णता होती है उसे पर्याप्त-नामकर्म कहते हैं।

पर्याय–द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं। पर्याय एक के बाद दूसरी इस प्रकार क्रमशः होती है। अतः पर्याय को क्रमभावी या क्रमवर्ती कहा जाता है। पर्याय दो प्रकार की होती है–अर्थ-पर्याय और व्यजन-पर्याय। ये स्वभाव और विभाव रूप होती हे।

पर्यायार्थिक-नय–जो द्रव्य को गौण करके मुख्य रूप से पर्याय को अनुभव करावे वह पर्यायार्थिक-नय है। जैसे–'कुण्डल लाओ'–यह कहने पर व्यक्ति कडा आदि नहीं लाता क्योंकि कुण्डल रूप पर्याय ही उसे इष्ट है। सारा लोक-व्यवहार इसी नय की दृष्टि से चलता हे।

पर्व–धर्म-सचय की कारणभूत अष्टमी आदि विशेष तिथियो को पर्व कहते हैं।

पश्चात्स्तुति–यदि साधु आहार ग्रहण करने के बाद दाता की प्रशसा करता है तो यह पश्चात्स्तुति नामक दोष है।

पाक्षिक-श्रावक–मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव की वृद्धि करना तथा हिसा का त्याग करना यही जैनो का पक्ष है। इसलिए जो जिनेन्द्र भगवान के प्रति श्रद्धा रखते हुए हिसा आदि पाच पापो का त्याग करने की प्रतिज्ञा लेता है उसे पाक्षिक-श्रावक कहते हैं।

पाणिजन्तुवध–आहार ग्रहण करते समय यदि साधु की अजुलि में चींटी आदि जीव मर जाता है तो यह पाणिजन्तुवध नाम का अतराय है।

पाणिपिण्ड-पतन–आहार करते समय यदि साधु की अंजलि से ग्रास आदि गिर जाता हे तो यह पाणिपिण्ड पतन नाम का अतराय है।

पापानुवधी-पुण्य–पुण्य के उदय से प्राप्त बुद्धि, कोशल, निरोग शरीर आदि क्षमताओ को पापार्जन मे लगा देना यह पापानुवधी-पुण्य का उपभोग है।

पापोपदेश–बिना प्रयोजन के दूसरो को हिसाजन्य खेती, व्यापार आदि पाप कार्य करने का उपदेश देना पापोपदेश नाम का अनर्थदड है।

पारिग्राहिकी-क्रिया–परिग्रह के अर्जन और सरक्षण के लिए जो क्रिया की जाती है वह पारिग्राहिकी-क्रिया है।

पारिणामिक-भाव–परिणाम अर्थात् स्वभाव से जो होते है वे पारिणामिक भाव है। आशय यह है कि कर्म के उदय, क्षय, उपशम और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखते हुए जो जीव के स्वभावभूत भाव है वे पारिणामिक-भाव कहलाते है। ये तीन प्रकार के है–जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।

पारितापिकी क्रिया–जो दुःख के वढाने मे कारण है वह पारितापिकी-क्रिया है।

पार्थिवी-धारणा–पिडस्थ ध्यान करने वाला योगी सर्वप्रथम अत्यन्त शात और सफेद क्षीर समुद्र का ध्यान करे फिर उसके मध्य मे सुदर स्वर्ण कमल का चिन्तवन करे तत्पश्चात् उस कमल के मध्य स्थित कर्णिका मे श्वेत रग के सिहासन का चिन्तन करे। अत मे उस सिहासन पर सब कर्मों का क्षय करने मे समर्थ निज आत्मा का चितवन करे यह प्रथम पार्थिवी-धारणा है।

पार्श्वनाथ–तेइसवें तीर्थंकर। उग्रवंशी राजा विश्वसेन और रानी ब्राह्मी (वामादेवी) के यहां इनका जन्म हुआ। इनकी आयु सौ वर्ष थी। नौ हाथ ऊंचा इनका शरीर हरे रंग की आभा वाला था। सोलह वर्ष की अवस्था में ये अपने नाना महीपाल के यहां गए। वहां पंचाग्नितप करने के लिए लकड़ी जलाने वाले तापस को रोका और बताया कि इसमें नागयुगल है। तब क्रोधवश उसने लकड़ी काट दी। उसमें से निकले मरणासन्न नाग के जोड़े को इन्होंने धर्मोपदेश दिया जिससे वह सर्पयुगल मरकर धरणेन्द्र और पद्मावती नाम का देव-युगल हुआ। तीस वर्ष की कुमार अवस्था में इन्होंने विरक्त होकर जिनदीक्षा ले ली। तपस्या काल में कमठ के जीव शम्बर देव ने इन पर उपसर्ग किया। धरणेन्द्र-पद्मावती ने आकर उपसर्ग निवारण किया। उपसर्ग निवारण के साथ ही इन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इनके संघ में स्वयंभू आदि दस गणधर, सोलह हजार मुनि, छत्तीस हजार आर्यिकाएं, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएं थीं। इन्होंने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

पार्श्वस्थ–जो संयम का निर्दोष पालन नहीं करते, सदा एक ही वसतिका में रहते हैं, दोषयुक्त आहार लेते हैं, उपकरणों के द्वारा जीविका चलाते हैं, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की विनय नहीं करते और संयमी गुणवान साधुओं को दोषी ठहराते हैं ऐसे साधु पार्श्वस्थ कहलाते हैं। ये वंदनीय नहीं हैं।

पिण्डस्थ-ध्यान–निजात्मा का चिन्तवन करना पिंडस्थ ध्यान है। पिंडस्थ ध्यान करने वाला योगी अनेक प्रकार की धारणाओं के द्वारा मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है। इसमें पांच धारणाएं क्रम

से होती है—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती।

पिच्छिका—यह दिगम्बर मुनि की पहचान का बाह्य चिह्न है। इसे धारण करने से मुनिजन प्राचीन मुनियों के प्रतिनिधि स्वरूप है, ऐसा निश्चय हो जाता है। यह मयूर के द्वारा स्वत छोडे गये पखो से बनायी जाती है। यह धूल व पसीने से मैली नहीं होती, कोमल, मृदु और हल्की होती है। मुनिराज इसके द्वारा जीव दया का पालन करते है। इसलिए यह सयम का उपकरण भी है।

पिपासा-परीषह-जय—जो साधु ग्रीष्म-ऋतु के आतप या पित्त ज्वर आदि से उत्पन्न होने वाली तीव्र प्यास को समता भाव से सहन करते है और उसके प्रतिकार का उपाय नही करते, उनके यह पिपासा-परीषह-जय कहलाता है।

पिहित—जो आहार अप्रासुक वस्तु से ढका है उसे निकालकर साधु को देना पिहित नाम का दोष है।

पुण्डरीक—जिसमे भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों मे उत्पत्ति के कारणभूत दान, पूजा आदि अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है वह पुण्डरीक नाम का अङ्गबाह्य है।

पुण्य—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है उसे पुण्य कहते है। अथवा जीव के दया, दान, पूजा आदि रूप शुभ परिणाम को पुण्य कहते है।

पुण्यानुबधी-पाप—पाप के उदय से मिले अपग या रुग्ण शरीर तथा मद बुद्धि आदि होने पर भी पुण्य-कार्य मे लगे रहना पुण्यानुबधी-पाप

का उपभाग ह।

पुण्यानुबंधी पुण्य—पुण्य क उदय म प्राप्त बुद्धि, काशल, निराग शरीर आदि ामताआ का पुण्यार्जन म लगा दना यह पुण्यानुबंधी-पुण्य का उपभाग ह।

पुत्र—जा पिता क पवित्र आचरण का अनुसरण करक अपन आपको आर अपन वश का पवित्र कर उस पुत्र कहत ह।

पुद्गल—जा पूरण आर गलन स्वभाव वाला ह वह पुद्गल ह। अथवा जिसम रूप, रस, गध व स्पर्श य चारा गुण पाए जात ह उस पुद्गल कहत ह। पुद्गल क दो भद ह—स्कध व परमाणु।

पुद्गल-विपाकी—जिन कर्मो का विपाक अर्थात् फल मुख्यत पुद्गल रूप शरीर म होता ह व पुद्गल-विपाकी कम ह। इनक निमित्त से जीव क शरीर आदि की सरचना हाती हे।

पुराण—त्रसठ शलाका पुरुषो के जीवन-चरित्र पर आधारित शास्त्र को पुराण कहत हे।

पुरुष-वेद—जिस कर्म क उदय से स्त्री के प्रति कामसेवन का भाव उत्पन्न हाता हे वह पुरुषवेद हे।

पुरुषार्थ—चेष्टा या पयत्न करना पुरुषार्थ हे। धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष—यह चार पकार का पुरुषार्थ कहा गया हे। धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ के द्वारा जीव मोक्ष प्राप्त करता हे। धर्म से रहित अर्थ ओर काम पुरुषाथ मात्र ससार बढाने वाले हे।

को दना पूति दोष है। अथवा चूल्हा, ओखली, चम्मच, भोजन पकाने के वर्तन तथा सुगध युक्त द्रव्य—इन पाचो म ऐसा सकल्प करना कि इस चूल्हे आदि से वना भोजन जव तक साधु को न दे दे तव तक अन्य किसी को नहीं देगे यह पूति-दाप हे।

पूर्व–1 जिसमे उत्पाद, व्यय ओर ध्रोव्य आदि की प्ररूपणा की जाती हे उसे पूर्व कहते हे। पूर्व के चोदह भेद प्रसिद्ध हे। 2 यह काल का एक विशष प्रमाण हे। चोरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाग होता हे ओर चोरासी लाख पूर्वाग का एक पूर्व होता हे।

पूर्व-स्तुति–यदि साधु दाता के सामने उसकी स्तुति करके आहार ग्रहण करता है तो पूर्व-म्तुति नाम का दोष हे।

पृच्छना–ग्रथ या ग्रथ के अर्थ क विषय मे सशय दूर करन के लिए या निर्णय की पुष्टि के लिए दूसरे स पूछना या प्रश्न करना पृच्छना नाम का स्वाध्याय हे।

पृथक्त्व–1 द्रव्य, गुण ओर पर्याय के भिन्नपन को पृथक्त्व कहते हे। 2 पृथक्त्व यह आगमिक सज्ञा हे। इसके द्वारा तीन से नो के मध्य की किसी सख्या का वोध होता हे। जेसे–वर्ष-पृथक्त्व कहने पर तीन से नो वर्ष के वीच की अवधि का वाध होता हे।

पृथक्त्व-विक्रिया–अपने शरीर से भिन्न भवन, मडप आदि अनेक रूप धारण करने की सामर्थ्य हाना पृथक्त्व-विक्रिया कहलाती हे। यह देवो मे जन्म से पायी जाती हे तथा मनुष्यो को तप व विद्या से प्राप्त हाती हे।

पृथक्त्व-वितर्क-वीचार–इस ध्यान मे प्रवेश पाने वाले महामुनि समस्त रागादि विकल्पो से रहित होकर अनेक द्रव्यो का अलग-अलग

आलम्वन लेकर अर्थ, व्यजन और योगो मे परिवर्तन करते हुए श्रुतज्ञान के माध्यम से ध्यान करते है। यह पहला शुक्ल-ध्यान है।

पृथिवीकाय–पृथिवीकायिक जीव के द्वारा छोडे गए शरीर को पृथिवीकाय कहते है।

पृथिवीकायिक–पृथिवी ही जिसका शरीर है उसे पृथिवीकायिक-जीव कहते हे।

पृथिवीजीव–जो जीव पृथिवीकायिक मे उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति मे जा रहा है उसे पृथिवी-जीव कहते है।

पेय–पीने योग्य दूध, पानी आदि पतले पदार्थ पेय कहलाते हे।

पोतज–जिस जीव के शरीर के सव अवयव बिना आवरण के पूरे हुए हे ओर जो गर्भ से वाहर निकलते ही चलने-फिरने मे समर्थ होता हे उसे पोत कहते है। पोत-रूप से जन्म लेना पोतज कहलाता है। हरिण आदि जीव पोतज होते है।

प्रकृति-वध–प्रकृति का अर्थ स्वभाव होता है। जैसे गुड मे मधुरता का होना उसकी प्रकृति है। इसी प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किए गए पुद्गल स्कध मे ज्ञान आदि को आवरित करने रूप कर्म प्रकृति का होना ही प्रकृति वध है। प्रकृति वध दो प्रकार का है–मूल प्रकृति ओर उत्तर प्रकृति। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अतराय ये आठ मूल कर्म प्रकृतिया है। इन मूल प्रकृतियों के भेद-प्रभेद रूप एक सौ अडतालीस उत्तर प्रकृतिया हे। एक वार खाए गए अन्न का जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूप

से अनेक पकार का परिणमन होता हे उसी प्रकार एक आत्म-परिणाम के द्वारा ग्रहण किए गए पुद्गल ज्ञानावरणादि रूप अनेक भेदो का प्राप्त हाते हे।

प्रचला–मद, खेद या थकावट आदि के कारण वेठे-वेठे ही झपकी आ जाना प्रचला है। प्रचला के तीव्र उदय मे जीव किंचित् नेत्रो को खोलकर साता हे ओर सोता हुआ भी कुछ जागता रहता है। वार-वार सोता ओर जागता हे। सिर थोडा-थोडा हिलता रहता हे।

प्रचला-प्रचला–प्रचला की पुनरावृत्ति का नाम प्रचला-प्रचला है। पचला-पचला के तीव्र उदय मे जीव खडे-खडे भी सो जाता हे ओर हाथ, पेर, सिर आदि चलायमान हो जाते हे।

प्रज्ञा-परीपह-जय–अनक शास्त्रो म पारगत ओर निपुण होते हुए भी जो साधु अपन शास्त्र ज्ञान का अभिमान नहीं करता ओर सदा समता ग्खता हे उसका यह प्रज्ञा-परीषह-जय कहलाता हे।

प्रज्ञा-श्रमण-ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु विशेष अध्ययन के विना भी समस्त शास्त्रो को सूक्ष्मता से जानने मे समर्थ होता हे उसे प्रज्ञा-श्रमण-ऋद्धि कहत हे।

प्रतिक्रमण–1 किए गये दोषो की निवृत्ति का नाम प्रतिक्रमण हे। जव चारित्र का पालन करते हुए साधु से कोई दोष हो जाता हे तो मन, वचन से 'मेने यह अयोग्य कार्य किया' ऐसा पश्चात्ताप रूप परिणाम उत्पन्न होता हे। यही प्रतिक्रमण कहलाता हे। देवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक, ईर्यापथ ओर उत्तमार्थ के भेद से प्रतिक्रमण सात प्रकार का हे। यह साधु का एक मूलगुण हे।

2 जिसमे देश काल के अनुरूप सात प्रकार के प्रतिक्रमण का कथन किया गया हे वह प्रतिक्रमण नाम का अङ्गबाह्य हे।

प्रतिजीवी-गुण–द्रव्य मे जो अभाव रूप गुण हे उन्हे प्रतिजीवी-गुण कहते है। जैसे नास्तित्व, अमूर्तत्व आदि।

प्रतिनारायण–ये नारायण के शत्रु होते हे और युद्ध मे नारायण के हाथो मरण को प्राप्त कर नरक जाते है। एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल मे कुल नो प्रतिनारायण होते है। अन्य शलाका पुरुषो की तरह इनका शरीर भी उत्तम सहनन व उत्तम सस्थान वाला होता हे।

प्रतिमा–1 नेष्ठिक श्रावक के व्रतादि गुणो मे उत्तरोत्तर विकास के ग्यारह स्थान कहे गये हे। यही श्रावक की ग्यारह प्रतिमा कहलाती है। आगे की प्रतिमा के साथ पहले की प्रतिमा के व्रत नियम भी पालन करना अनिवाय होता हे। 2 अर्हन्त आदि की वीतराग मूर्ति को प्रतिमा कहते हे। यह पाषाण, काष्ठ, धातु, रत्न आदि से निर्मित हो सकती हे।

प्रतिष्ठा–मत्रोच्चारण आदि विधि-विधान पूर्वक रत्न, पाषाण आदि से निर्मित वीतराग प्रतिमा मे अर्हन्त आदि की स्थापना करना प्रतिष्ठा कहलाती हे।

प्रतिष्ठापन-समिति–जहा जीवों की विराधना न हो ऐसे निर्जन्तुक स्थान मे मल मूत्र आदि का सावधानी से विसर्जन करना प्रतिष्ठापन या उत्सर्ग समिति हे। यह साधु का एक मूलगुण है।

प्रतीत्य-सत्य–अन्य वस्तु की अपेक्षा से जो कहा जाए वह प्रतीत्य-सत्य है। जेसे–'यह दीर्घ हे' या 'वह ह्रस्व है।'

प्रत्यक्ष-ज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता क विना जो स्पष्ट ओर विशद ज्ञान आत्मा मे हाता हे उसे प्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हे। प्रत्यक्ष के दो भेद हे–सकल ओर विकल। केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष हे ओर अवधिज्ञान एव मन पर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हे।

प्रत्यभिज्ञान–'यह वही हे'–इस प्रकार के स्मरण को प्रत्यभिज्ञान कहते हे। आशय यह हे कि पहले जिस वस्तु को देखा था उसे पुन देखने पर 'यह वही है'–इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता हे। प्रत्यभिज्ञान अनक प्रकार से होता हे जेसे–'यह वही हे', 'यह उसके सदृश्य हे', 'यह उससे भिन्न हे' आदि।

प्रत्यय–प्रत्यय शव्द के अनेक अर्थ हे। प्रत्यय का अर्थ ज्ञान है। प्रत्यय का अर्थ श्रद्धा भी हे। प्रत्यय शव्द हेतु या कारण वाचक भी हे। जेनागम में प्रत्यय शव्द मुख्यत आस्रव व वध के कारणो के लिए प्रयुक्त हाता हे। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय ओर योग यह पाच आस्रव व वध के हेतु या प्रत्यय कहलाते हे।

प्रत्याख्यान–भविष्य मे दोप न होने दने के लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान हे। अथवा साधु के द्वारा आहार ग्रहण करने के उपरान्त निश्चित काल क लिए जो सव प्रकार क आहार का त्याग कर दिया जाता हे वह प्रत्याख्यान कहलाता हे। यह साधु का एक मूलगुण है। इसके छह भद हे–नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल ओर भाव। अयोग्य नामो का उच्चारण नही करने का सकल्प लेना नाम प्रत्याख्यान हे। वीतरागी क सिवाय अन्य किसी प्रतिमा की पूजा नहीं करने का सकल्प लेना स्थापना-प्रत्याख्यान हे। अयोग्य आहार व उपकरण आदि ग्रहण

न करने का सकल्प करना द्रव्य-प्रत्याख्यान हे। सक्लेश उत्पन्न कराने वाले स्थान का त्याग करना क्षेत्र-प्रत्याख्यान हे। अयोग्य काल का त्याग करना काल-प्रत्याख्यान हे। अशुभ-परिणामो के त्याग का सकल्प करना भाव-प्रत्याख्यान हे।

प्रत्याख्यान-प्रवाद–जिसमे व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, तप, आराधना आदि का तथा साधु के अयोग्य वस्तु के त्याग आदि का वर्णन हे वह प्रत्याख्यान-प्रवाद-पूर्व नाम का नोवा पूर्व है।

प्रत्याख्यान-सेवना–यदि साधु आहार करते समय त्याग की गई वस्तु को प्रमादवश ग्रहण करे तो यह प्रत्याख्यान-सेवना नाम का अन्तराय हे।

प्रत्याख्यानावरण–जिस कपाय के उदय म जीव सकल सयम अर्थात् महाव्रतो को धारण करने मे समर्थ नही होता उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हे। यह क्रोध, मान, माया ओर लोभ इन चारो रूपो मे होती हे।

प्रत्याहार–मन की प्रवृत्ति का सकोच कर लेने पर जो मानसिक सतोप होता हे उसे प्रत्याहार कहते हे। यह ध्यान का एक अङ्ग हे।

प्रत्येक-वनस्पति-जीव–जिसमे एक शरीर का स्वामी एक जीव होता हे वह प्रत्येक वनस्पति कहलाती हे। अथवा प्रत्येक अर्थात् एक-एक जीव का एक-एक पृथक् शरीर जिसमे होता हे वह प्रत्येक वनस्पति हे। प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हे–सप्रतिष्ठित-प्रत्येक ओर अप्रतिष्ठित-प्रत्येक। तृण, वल छोटे वृक्ष, वडे वृक्ष ओर कन्द मूल–इन पाच रूपो मे प्रत्येक वनस्पति दिखाइ पडती हे। ये पाचो

वनस्पति जव निगोद या साधारण शरीर से आश्रित हो तो सप्रतिष्ठित-प्रत्यक कहलाती हे ओर जव निगोद से रहित हो तो अप्रतिष्ठित-प्रत्येक कहनाती हे।

प्रत्येक-वुद्धि ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से गुरु के उपदेश के विना ही कर्मो क उपशम से सम्यग्ज्ञान ओर तप के विपय मे प्रगति होती हे उसे प्रत्येक-वुद्धि-ऋद्धि कहते हे।

प्रत्येक-शरीर–जिस कर्म के निमित्त से एक शरीर का स्वामी एक जीव होता हे उसे प्रत्येक-शरीर-नामकर्म कहते हे।

प्रथमानुयोग–1 एक महापुरुष सवधी या त्रेसठ शलाका पुरुष सवधी कथा रूप शास्त्र को प्रथमानुयोग कहत है। यह पुण्यवर्धक, वोधि व समाधिदायक परमार्थ का कथन करने वाला जिनवाणी का प्रमुख अङ्ग हे। कथा क माध्यम से धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला यह अनुयोग प्राथमिक जीवो के लिए अत्यत उपकारी हे। इसे सुनकर जीवो को सम्यग्दशन रूप वोधि ओर धर्म व शुक्ल ध्यान रूप समाधि की प्राप्ति होती हे। इसमे वर्णित कथा वास्तविक होती हे, कल्पित नही होती। जम्वूस्वामी-चरित्र, प्रद्युम्न-चरित्र, महापुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण आदि ग्रथ प्रथमानुयोग रूप हे। 2 जो पुराणो का वर्णन करता हे वह प्रथमानुयोग है। यह दृष्टिवाद नामक वारहवे अङ्ग का तीसरा भेद हे।

प्रथमोपशम-सम्यक्त्व–मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व से छूटकर जो सर्वप्रथम उपशम-सम्यक्त्व होता हे वह प्रथमोपशम-सम्यक्त्व कहलाता हे। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाला जीव पचेन्द्रिय,

सज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्व विशुद्ध होना चाहिए। नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चारो ही गति के मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते है।

प्रदेश–एक परमाणु आकाश मे जितनी जगह घेरता है उतने आकाश को एक प्रदेश कहते है।

प्रदेशत्व–जिसके द्वारा द्रव्य का कोई न कोई आकार बना रहता है वह प्रदेशत्व गुण है।

प्रदेशबध–1 कर्म-प्रकृतियो के कारणभूत प्रतिसमय योग-विशेष के द्वारा सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्म-प्रदेशो मे सबध को प्राप्त होते है, यह प्रदेश-बध है। 2 कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कधो का परमाणु की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेश-बध है।

प्रभाव–शाप ओर अनुग्रह की शक्ति को प्रभाव कहते है। यह शक्ति देवो मे पायी जाती है।

प्रभावना–1 ज्ञान, ध्यान, तपश्चरण, दया, दान तथा जिनपूजा आदि के द्वारा जिन-धर्म की महिमा को प्रकाशित करना प्रभावना है। 2 रत्नत्रय के प्रभाव से अपनी आत्मा को प्रकाशित करना प्रभावना है। यह सम्यग्दृष्टि का एक गुण है।

प्रमत्त-सयत–जो साधु व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद से युक्त रहकर भी महाव्रतो का पालन करते है वे प्रमत्त-सयत कहलाते है। आहार-विहार, अध्ययन-मनन और धर्मोपदेश आदि शुभ क्रिया रूप प्रमाद से युक्त

होने के कारण ये प्रमत्त-सयत ह।

प्रमाण–सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हे। प्रत्यक्ष ओर परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का हे। स्वार्थ ओर परार्थ–ये दो भेद भी प्रमाण के हे। ज्ञानात्मक प्रमाण को स्वार्थ प्रमाण कहते हे और वचनात्मक प्रमाण को परार्थ प्रमाण कहा गया हे। श्रुतज्ञान को छोडकर शेष चारो ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हे तथा श्रुतज्ञान स्वाथ व परार्थ दोनो रूप हे।

प्रमाण-दोष–साधु यदि मात्रा से अधिक आहार ग्रहण करे तो यह प्रमाण-दोष कहलाता हे। जितने आहार से धेर्य, वल, सयम और योग ठीक वना रहे उतना ही आहार का प्रमाण हे।

प्रमाद–1 अच्छे कार्यो के करने म आदर-भाव का न होना प्रमाद कहलाता हे। 2 सज्वलन कपाय के तीव्र उदय का नाम प्रमाद हे। प्रमाद के पद्रह भेद हे–चार विकथा, पाच इन्द्रिय, चार कषाय, निद्रा ओर प्रणय।

प्रमाद-चर्या–विना प्रयोजन के पृथिवी खोदना, जल फैलाना, अग्नि जलाना-बुझाना, वनस्पति को छेदना, गमन करना या कराना प्रमाद-चर्या नाम का अनर्थदण्ड हे।

प्रमादवर्धक–जिसके सेवन से उन्माद या नशा आता हे ऐसे मदिरा आदि मादक पदार्थ प्रमादवर्धक अभक्ष्य कहलाते हे।

प्रमेयत्व–जिसके द्वारा द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय वनता हे अर्थात् जानने मे आता है वह प्रमेयत्व-गुण है।

प्रमोद–गुणीजनो को देखकर मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा अतरग भक्ति और अनुराग का व्यक्त होना प्रमोद है।

प्रयोग-क्रिया–शरीर के द्वारा होने वाली गमनागमन आदि रूप प्रवृत्ति ही प्रयोग-क्रिया है।

प्रवचन–वर्ण, पंक्ति आदि रूप द्वादशाग को प्रवचन कहते है। अथवा अर्हन्त भगवान के वचन रूप आगम को प्रवचन कहते है।

प्रवचन-भक्ति–द्वादशाग रूप प्रवचन मे कहे गए अर्थ का अनुष्ठान करना प्रवचन-भक्ति है। अथवा प्रवचन मे अनुराग रखना प्रवचन-भक्ति हे। यह सोलह-कारण भावना मे एक भावना हे।

प्रवचन-मातृका–पाच समिति और तीन गुप्ति को अप्ट प्रवचन-मातृका कहते हे। ये अप्ट प्रवचन-मातृका मुनि के ज्ञान, दर्शन ओर चारित्र की सदा ऐसे रक्षा करती हे जैसे पुत्र का हित करने मे सावधान माता उसे सदा पापो से वचाती है।

प्रवचन-वत्सलत्व–जिस प्रकार गाय अपने बछडे से सहज स्नेह करती है उसी प्रकार धर्मात्मा को देखकर सहज स्नेह से ओतप्रोत हो जाना प्रवचन-वत्सलत्व है। यह सोलह कारण भावना मे एक भावना हे।

प्रव्रज्या–जिनदीक्षा को प्रव्रज्या कहते हे। वैराग्य से ओतप्रोत होकर निर्ग्रथ गुरु की शरण मे जाकर समस्त आरभ-परिग्रह का त्याग करके यथाजात वालकवत् निर्विकार नग्न रूप धारण करना और समता पूर्वक तपस्वी जीवन जीने की प्रतिज्ञा करना प्रव्रज्या कहलाती है।

प्रशम–पचेन्द्रिय के विषयो मे तथा तीव्र क्रोधादि मे मन को नही जाने

देना प्रशम-भाव हे। यह सम्यग्दृष्टि का एक गुण हे।

प्रशस्त-नि सरणात्मक-तेजस–जगत् के जीवो को रोग शोक आदि से पीडित देखकर परम तपस्वी दयालु साधु की इच्छा से हस के समान उज्ज्वल सुदर आकृति वाला पुरुष उनके दाहिने कधे से निकलकर व्याधि, वेदना, दुर्भिक्ष आदि को शात कर सब जीवो को सुख उत्पन्न करता हे, यह प्रशस्त नि सरणात्मक-तेजस या शुभ तेजस कहलाता हे।

प्रशस्त-राग–अरहन्त, सिद्ध, साधुओ के प्रति भक्ति, दान, पूजा आदि धर्म कार्यो मे उत्साह ओर गुरुओ का अनुकरण करना प्रशस्त-राग कहलाता हे।

प्रश्न-व्याकरणाङ्ग–जिसम युक्ति ओर नयो के द्वारा अनेक प्रश्नो का उत्तर दिया गया हे वह प्रश्न-व्याकरणाङ्ग हे।

प्रस्रवण–यदि आहार के समय साधु के शरीर से किसी रोगवश अनायास मूत्रादि निकले तो यह प्रस्रवण नाम का अतराय है।

प्रहार–यदि आहार के समय साधु के ऊपर या किसी दूसरे के ऊपर कोई प्रहार कर दे तो यह प्रहार नाम का अतराय हे।

प्राकाम्य ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु जल के समान पृथिवी पर और पृथिवी के समान जल पर गमन करने मे समर्थ होते हे वह प्राकाम्य-ऋद्धि कहलाती हे।

प्राण–जिसके द्वारा प्रत्येक जीव जीता हे उसे प्राण कहते हे। प्राण दो प्रकार के हे–द्रव्य-प्राण और भाव-प्राण। जीव के चेतना या ज्ञान-दर्शन

रूप भाव-प्राण है तथा पाच इन्द्रियप्राण, मन, वचन, काय, रूप तीन बलप्राण, आयु और श्वासोच्छ्वास—इस तरह दस द्रव्य-प्राण है।

प्राणातिपातिकी-क्रिया—जीव के प्राणो का वियोग करने वाली क्रिया को प्राणातिपातिकी-क्रिया कहते है।

प्राणापान—देखिए उच्छ्वास नामकर्म।

प्राणायाम—मन, वचन और काय की क्रिया को नियंत्रित करना तथा शुभ-भाव रखना प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम के तीन अङ्ग है—श्वास को धीरे-धीरे अदर खींचना कुम्भक है, उसे रोके रहना पूरक है और धीरे-धीरे उसे बाहर छोडना रेचक है। इन तीनो का अभ्यास प्राणायाम कहलाता है। जैनागम मे इसे अधिक महत्वपूर्ण नही माना गया है क्योंकि चित्त की एकाग्रता हो जाने पर श्वास का नियंत्रण स्वत हो जाता है।

प्राणावाय-प्रवाद—शरीर-चिकित्सा आदि अष्टाग आयुर्वेद, भूतिकर्म, विषविद्या तथा प्राणायाम आदि के भेद-प्रभेदो का वर्णन करने वाला प्राणावाय-प्रवाद-पूर्व नाम का बारहवा पूर्व है।

प्राणिसयम—देखिए सयम।

प्रातिहार्य—अर्हन्त भगवान की महिमा और विभूति प्रकट करने वाले प्रातिहार्य होते है। अशोक वृक्ष, तीन छत्र, सिहासन, दिव्यध्वनि, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और चौसठ चमर—ये आठ प्रातिहार्य प्रसिद्ध है।

प्रात्ययिकी क्रिया–नये-नये अधिकरणों का उत्पन्न करना प्रात्ययिकी-क्रिया है।

प्रादुष्कार-दोष–यह दोष संक्रमण और प्रकाशन के भेद से दो प्रकार का है। साधु के आ जाने पर आहार सामग्री एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना संक्रमण नाम का प्रादुष्कार-दोष है तथा आहार के स्थान पर प्रकाश कम होने पर किवाड खोलना या दीपक आदि जलाना प्रकाशन नाम का प्रादुष्कार-दोष है।

प्रादोषिकी-क्रिया–क्रोध के आवेश से होने वाली प्रादोषिकी-क्रिया है।

प्राप्ति ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु भूमि पर स्थित रहकर अंगुलि के अग्र भाग से सूर्य, चंद्र को, मेरुशिखर को या अन्य वस्तुओं का स्पर्श करने में समर्थ होता है वह प्राप्ति-ऋद्धि है।

प्राभृत-दोष–दिन, पक्ष, महीना, वर्ष या ऋतु आदि को बदलकर आहार देना प्राभृत-दोष है। अथवा प्रातः का मध्याह्न में और मध्याह्न का प्रातःकाल में, ऐसा समय बदलकर साधु को आहार देना प्राभृत-दोष है।

प्रामृष्य–साधु को आहार कराने के लिए दूसरे से आहार सामग्री उधार लेना प्रामृष्य नामक दोष है।

प्रायश्चित–प्रमादजन्य दोषों का परिहार करना प्रायश्चित नाम का तप है। व्रतों में दोष लगने पर साधु अपने दोषों का निराकरण करने के लिए जो उपवास आदि अनुष्ठान करते हैं वह प्रायश्चित कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

प्रायोग्य-लब्धि–सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग

को घात करके अन्त कोडाकोडी स्थिति मे और द्विस्थानीय अनुभाग मे स्थित कर देना प्रायोग्य-लब्धि कहलाती है।

प्रायोपगमन–जीवन पर्यन्त के लिए आहार का त्याग करके और समस्त सेवा-वेय्यावृत्ति से रहित होकर जो समाधि ली जाती है उसे प्रयोपगमन नामक सल्लेखना कहा गया हे। इस प्रकार की सल्लेखना उत्तम सहनन के धारी महाबलशाली और शूरवीर तपस्वी साधु ही धारण कर सकते है। पचमकाल मे यह सभव नहीं है।

प्रारभ-क्रिया–छेदना-भेदना, रचना करना आदि क्रियाओ मे स्वय तत्पर रहना तथा दूसरे के द्वारा किये जाने पर हर्षित होना प्रारभ-क्रिया हे।

प्रासुक–जल, वनस्पति आदि को विशेष-प्रक्रिया के द्वारा सूक्ष्म जीवो के सचार से रहित कर लेना प्रासुक करना कहलाता है। जिसमे से एकेन्द्रिय आदि जीव निकल जाते हे वह प्रासुक द्रव्य माना जाता है। स्वच्छ वस्त्र से छाना गया जल दो प्रहर तक प्रासुक रहता है तथा उबला हुआ जल चौबीस घंटे तक प्रासुक रहता है।

प्रासुक-मार्ग–जिस मार्ग से आवागमन हो रहा है, जो सूर्य की किरणो से तप चुका है या जहा खेती के लिए हल चलाया गया है वह प्रासुक-मार्ग हे। साधु-जन प्रासुक-मार्ग से ही गमन करते है।

प्रेमानुराग–साधर्मी भाई को प्रेमवश बार-बार उपदेश देकर सन्मार्ग पर स्थित रखने का भाव होना प्रेमानुराग कहलाता है।

प्रोषधोपवास–1 प्रोषध का अर्थ पर्व हे। पर्व के दिन उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता हे। 2 एक बार दिन मे भोजन-करना प्रोषध

है। जिस उपवास के पहले और बाद में प्रोषध किया जाए वह प्रोषधोपवास है।

प्रोषधोपवास-प्रतिमा–तीसरी सामायिक-प्रतिमा धारण करने के उपरान्त प्रतिमाह अष्टमी व चतुर्दशी के दिन उपवास करने की प्रतिज्ञा लेना–यह श्रावक की चौथी प्रोषधोपवास-प्रतिमा कहलाती है।

फ

फल-चारण ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु फलो मे रहने वाले जीवो को पीडा पहुचाए बिना उनके ऊपर से चलने मे समर्थ होते है वह फल-चारण-ऋद्धि कहलाती है।

ब

बन्ध–कर्म का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह होना वध कहलाता हे। अथवा दूध व पानी की तरह कर्म ओर आत्मा का परस्पर सश्लेष सवध होना वध कहलाता हे। वध दो प्रकार का हे–भाव-बध ओर द्रव्य-वध। जीव के क्रोधादि परिणाम ही भाव-वध है तथा जीव के साथ ज्ञानावरणीय आदि पुद्गल कर्म का सवध होना द्रव्य-बध है। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति ओर अनुभाग के भेद से वध चार प्रकार का है।

बन्धन-नामकर्म–शरीर की रचना के लिए प्राप्त हुए पुद्गलो का जिस कर्म के उदय से परस्पर सश्लेष होता है वह बन्धन-नामकर्म है। यदि वन्धन नामकर्म न हो तो शरीर लकडियो के ढेर के समान हो जावेगा।

बकुश–जो निर्ग्रथ हे और महाव्रतो का अखड पालन करते हे लेकिन शरीर व उपकरणो की शोभा वढाने मे रुचि रखते हें तथा ऋद्धि व यश प्राप्ति की कामना करते हे वे साधु बकुश कहलाते हे।

वलभद्र–ये नारायण के सगे भाई होते हे। हलायुध, वाण, गदा और माला–इन चार महारत्नो के साथ अपार वेभव के स्वामी होते हे। एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल मे कुल नो वलभद्र उत्पन्न होत है जो स्वर्ग या मोक्षगामी हे।

वलिशेष-दोष–यक्ष, नाग आदि देवो के लिए चढाई गई वलि अर्थात् पूजन सामग्री मे से शेष वची हुई सामग्री साधु को आहार मे देना वलिशेष नामक दोष हे।

बहिरात्मा–जो जीव मिथ्यात्व के उदय से शरीर और आत्मा को एक मानता हे वह बहिरात्मा है।

वहु-अवग्रह–वहुत सी वस्तुओ को एक साथ जान लेना वहु-अवग्रह कहलाता है। जेसे–पाचो अगुलि को एक साथ जानना।

वहुघात–जिनके सेवन से वहुत जीवो का घात होता है ऐसे कदमूल, आलू, मूली, गाजर, अजीर आदि वहुघात नामक अभक्ष्य है।

वहुमान–वहुमान का अर्थ आदर या सम्मान है। मन को एकाग्र करके वडे आदर से जिनवाणी का स्वाध्याय करना वहुमान कहलाता है।

वहुविध-अवग्रह–बहुत सी वस्तुओ को या एक ही वस्तु को वहुत प्रकार से जानना वहुविध-अवग्रह कहलाता है। जैसे–गेहू, चना आदि वहुत प्रकार के धान्य को जानना।

वहुश्रुत-भक्ति–जो मुनि द्वादशाङ्ग के पारगामी है वे बहुश्रुत कहलाते है। ऐसे वहुश्रुतवान के द्वारा उपदेशित आगम के अनुरूप प्रवृत्ति करना वहुश्रुत-भक्ति कहलाती हे। यह सोलहकारण भावना मे एक भावना हे।

बादर-काय–जिन जीवो का शरीर स्थूल अर्थात् प्रतिघात सहित होता हे वे वादरकाय है। अथवा जो दूसरे को रोके और स्वय भी दूसरे से रुके वह स्थूल या वादरकाय है।

वादर-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव वादर-काय मे उत्पन्न होता हे वह वादर-नामकर्म हे।

वाल-तप–मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव के द्वारा किया जाने वाला तप

वाल-तप कहलाता हे।

वाल-पण्डित-मरण–सम्यग्दृष्टि देशव्रती श्रावक का मरण वाल-पण्डित-मरण कहलाता हे।

वाल-वाल-मरण–अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव के मरण को वाल-वाल-मरण कहते हे।

वाल-मरण–अविरत-सम्यग्दृष्टि जीव का मरण वाल-मरण हे।

बाहुवली–ये भगवान ऋपभदेव के पुत्र और भरत चक्रवर्ती के छोटे भाई थे। इनकी मा का नाम सुनदा था। ऋषभदेव के वैराग्य के उपरात इन्हे पोदनपुर का युवराज पद मिला। अपने ही भाई भरत-चक्रवर्ती से युद्ध मे जीतकर ससार से विरक्त हो गए। जिनदीक्षा लेकर एक वर्ष तक तपस्या मे लीन रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया ओर भगवान ऋषभदेव से पहले ही मोक्ष चले गए। ध्यानावस्था मे इनके शरीर पर लताए लिपट गयीं ओर सर्पो ने आसपास बाबी वना ली फिर भी ये ध्यान मग्न रहे। इस बात को दर्शाने के लिए आज भी इनकी प्रतिमा पर लताए लिपटी हुई दिखाई जाती हे। दक्षिण भारत मे स्थित गोम्मटेश्वर वाहुवली भगवान की अत्यत विशाल और सुदर मूर्ति विश्व को आश्चर्य चकित करने वाली है।

वाह्य-तप–जो तप वाह्य द्रव्य के आलम्बन से होता हे और दूसरो के देखने मे आता हे उसे वाह्य-तप कहते है। अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति-परिसख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन और काय-क्लेश—ये छह प्रकार का वाह्य-तप है।

बीज-पद–जिस प्रकार बीज ही वृक्ष के मूल, फल, शाखा, पत्र आदि का आधार है उसी प्रकार द्वादशाग जिनवाणी के आधारभूत जो पद हे वह बीज तुल्य होने से बीजपद कहलाते है।

बीज-बुद्धि ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु की बुद्धि एक ही बीज-पद के आश्रय से सपूर्ण द्वादशाग को जानने और विचार करने मे समर्थ होती है उसे बीज-बुद्धि-ऋद्धि कहते है।

बीज-सम्यक्त्व–जिन जीवादि पदार्थो का ज्ञान दुर्लभ है उनका किसी बीज पद के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर जो सम्यग्दर्शन होता हे उसे बीज-सम्यक्त्व कहते है।

बुद्धि–बुद्धि का अर्थ ज्ञान है। या जिसके द्वारा अर्थ जाना जाए उसे बुद्धि कहते है। यह इन्द्रियो के आलम्बन से उत्पन्न होती है।

बोधि–सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की प्राप्ति होना बोधि हे।

बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा–निगोद से निकलना, त्रस पर्याय पाना, और सज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य होना अत्यन्त दुर्लभ है। कदाचित् इसकी प्राप्ति हो जाए तो उत्तम देश, कुल और नीरोगता प्राप्त होना कठिन है। इस सबके मिल जाने पर भी विषय सुख से विरक्त होना, रत्नत्रय रूप वोधि को अगीकार करके तप की भावना करना, समाधि पूर्वक मरण को प्राप्त होना और केवलज्ञान पाना अति दुर्लभ है यही बोधि का सुफल हे–ऐसा वार-वार विचार करना बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा है।

बोधित-बुद्ध–जिनको परोपदेश पूर्वक ज्ञान की प्राप्ति होती है वे बोधित-बुद्ध कहलाते है।

ब्रह्मचर्य–मैथुन या कामसेवन का त्याग करना ब्रह्मचर्य है। अथवा ब्रह्म का अर्थ आत्मा है सो आत्मा में लीन होना ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत–परायी स्त्री को माता, बहिन और पुत्री के समान मानना और अपनी धर्मपत्नी में संतुष्ट रहना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

ब्रह्मचर्य-प्रतिमा–रात्रि-भुक्ति-त्याग नामक छठवीं प्रतिमा धारण करने के उपरांत जीवन-पर्यन्त के लिए अपनी धर्मपत्नी में भी कामसेवन नहीं करने की प्रतिज्ञा लेना यह श्रावक की सातवीं ब्रह्मचर्य-प्रतिमा है।

ब्रह्मर्षि–जो साधु बुद्धि-ऋद्धि और औषध-ऋद्धि से युक्त होते हैं वे ब्रह्मर्षि कहलाते हैं।

ब्राह्मी–ये तीर्थंकर ऋषभदेव और रानी यशस्वती की पुत्री थीं। ये शील और विनय से युक्त थीं। इन्होंने अपने पिता से सर्वप्रथम लिपि-विद्या सीखी। आज अत्यंत प्राचीन ब्राह्मी लिपि इन्हीं के नाम से प्रचलित है। अल्प वय में ही भगवान ऋषभदेव से दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में श्रेष्ठ पद पाया।

भ

भक्त-प्रत्याख्यान–शास्त्र मे कही गई विधि के अनुरूप क्रमश आहार का त्याग करके स्वत और दूसरे के द्वारा भी शरीर की यथायोग्य सेवा-वैय्यावृत्ति कराते हुए जो समाधि-मरण किया जाता है वह भक्त-प्रत्याख्यान नामक सल्लेखना कहलाती है।

भक्ति–अर्हन्त आदि के गुणो मे अनुराग रखना भक्ति है।

भद्र–मिथ्यात्व के मद उदय मे जो जीव समीचीन जिनधर्म से द्वेष नहीं करता उसे भद्र कहते है।

भद्रा-वाचना–तर्कसगत समाधान देते हुए जिनागम मे कहे गए जीवादि तत्त्व की व्याख्या करना भद्रा-वाचना हे।

भय–जिस कर्म के उदय से जीव भय का कारण मिलते ही भयभीत हो जाता हे वह भय नामक नो-कषाय है। भय सात प्रकार का हे–इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना ओर आकस्मिक-भय।

भय-संज्ञा–अत्यत भय से उत्पन्न जो भागकर कहीं छिप जाने की इच्छा है उसे भय-सज्ञा कहते हे।

भरत–ये प्रथम चक्रवर्ती थे। अयोध्या के राजा तीर्थकर ऋषभदेव इनके पिता और रानी यशस्वती इनकी माता थी। इन्होने छहो खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त की परन्तु अपने ही भाई बाहुवली से युद्ध मे हार गये थे। इनके साम्राज्य मे ही सर्वप्रथम स्वयवर प्रथा का शुभारभ

हुआ था। इनके ही नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। चिरकाल तक राज्य करने के उपरान्त इन्होंने जिनदीक्षा ले ली और अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त किया। इनकी आयु चौरासी लाख वर्ष पूर्व थी। इन्होंने कैलाश पर्वत पर चौबीस जिनालयों का निर्माण कराया और पांच सौ धनुष ऊंची तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित करायी।

भरत-क्षेत्र—यह क्षेत्र छह खण्डों में विभाजित है। इसमें पांच म्लेच्छखण्ड और एक आर्यखण्ड है। सभी शलाका पुरुष भरत-क्षेत्र के आर्यखण्ड में उत्पन्न होते हैं। भरत चक्रवर्ती के नाम से इसका भरत-क्षेत्र नाम प्रसिद्ध हुआ है। अढ़ाई द्वीप में पांच भरत-क्षेत्र हैं।

भव—आयु कर्म के उदय से जीव की जो मनुष्य, देव आदि पर्याय होती है उसे भव कहते हैं। मनुष्य, तिर्यंच, नरक और देव—ये चार भव हैं।

भवनत्रिक—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव—ये तीनों भवनत्रिक कहलाते हैं।

भवनवासी—जिनका स्वभाव भवनों में निवास करने का है वे भवनवासी देव कहलाते हैं। भवनवासी देव दस प्रकार के हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

भव-परिवर्तन—संसारी जीव ने नरक की छोटी से छोटी आयु से लेकर ग्रैवेयक विमान तक आयुक्रम से अनेक बार भ्रमण किया है। नरक गति में जघन्य आयु दस हजार वर्ष है। इस दस हजार वर्ष की आयु के साथ कोई जीव प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके

मर गया, पुन उसी आयु को लेकर वहा उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय है उतनी बार दस हजार वर्ष की आयु लेकर प्रथम नरक मे उत्पन्न हुआ फिर एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर वहीं उत्पन्न हुआ फिर दो समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक-एक समय बढाते-बढाते नरक गति की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण करता है। फिर तिर्यच-गति मे अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु लेकर उत्पन्न हुआ और पहले की तरह अन्तर्मुहूर्त के जितने समय है उतनी बार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर वहा उत्पन्न हुआ। फिर एक-एक समय बढाते-बढाते तिर्यच गति की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूरी करता है। फिर मनुष्य गति मे उत्पन्न होकर तिर्यच गति के समान अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु से लेकर तीन पल्य की उत्कृष्ट आयु क्रमश बढाते-बढाते पूरी करता है। फिर देवगति मे उत्पन्न होकर नरकगति के समान आयु को क्रमश पूर्ण करता है। देवगति मे इतनी विशेषता है कि वहा तेतीस सागर न होकर इकतीस सागर की आयु क्रमश पूर्ण करता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि की उत्पत्ति ग्रैवेयक तक ही होती हे जहा उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर है। इस प्रकार चारो गतियो की आयु को क्रम से प्राप्त करके पूर्ण करना यह भव-परिवर्तन है।

भवप्रत्यय-अवधिज्ञान—जिस अवधिज्ञान के होने मे मुख्य रूप से भव ही निमित्त है वह भवप्रत्यय-अवधिज्ञान है। यह अवधिज्ञान देव व नारकी जीवो को जन्म से ही होता है।

भवविपाकी कर्म—जिन कर्मो का विपाक या फल मनुष्य आदि भव के रूप मे होता है वे भव-विपाकी कर्म कहलाते है। नरकायु, तिर्यचायु,

मनुष्यायु और देवायु—ये चारों आयु-कर्म भवविपाकी हैं।

भव्य—जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होने की योग्यता है वह भव्य है। भव्य जीव तीन प्रकार के हैं—आसन्न भव्य, दूर भव्य और अभव्यसम भव्य। जो अल्पकाल में मुक्त होंगे, वे आसन्न-भव्य हैं। जो बहुत काल में मुक्त होंगे, वे दूर-भव्य हैं। मुक्त होने की योग्यता होने पर भी जो कभी मुक्त नहीं होंगे, वे दूरान्दूर-भव्य या अभव्यसम-भव्य हैं।

भाव—1 जीव के परिणाम को भाव कहते हैं। औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक—ये पांच भाव जीव के हैं। 2 जो औपशमिक आदि भावों के द्वारा जीवादि का विशेष ज्ञान किया जाता है वह भाव-अनुयोग-द्वार है।

भाव-कर्म—जीव के क्रोध आदि विकारी परिणाम भाव-कर्म कहलाते हैं।

भाव-निक्षेप—वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव-निक्षेप कहते हैं। द्रव्य का वर्तमान पर्याय की अपेक्षा व्यवहार करना भाव-निक्षेप है। जैसे—पूजा करते हुए को पुजारी कहना या सेवा करने वाले को सेवक कहना।

भाव-परिवर्तन—योग-स्थान, अनुभाग-स्थान, कषाय-स्थान और स्थिति-स्थान इन चार के निमित्त से भाव-परिवर्तन होता है। प्रकृति और प्रदेश-बंध के कारणभूत आत्मा के प्रदेश परिस्पंदन रूप योगस्थान होते हैं। अनुभाग-बंध में कारणभूत कषाय की तरतमता (उतार चढ़ाव) रूप अनुभाग-स्थान होते हैं तथा स्थितिबंध में कारणभूत

कषाय की तरतमता को कषाय-स्थान कहते है। वधने वाले कर्म की स्थिति के भेदो को स्थिति-स्थान कहा गया है। योगस्थान श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण हे। अनुभाग स्थान असख्यात लोक प्रमाण हे और कपाय स्थान भी असख्यात लोकप्रमाण हे। कोई मिथ्यादृष्टि, सज्ञी, पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ज्ञानावरणीय कर्म की अन्त कोडा-कोडी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति को बाधता हे। तव उस जीव के उस स्थिति के योग्य जघन्य कषाय-स्थान, जघन्य अनुभाग स्थान और जघन्य योगस्थान होता हे। फिर स्थिति, अनुभाग और कषाय-स्थान वही रहते है किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता हे। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थान होते है। जव सव योगस्थान पूर्ण हो जाते है तव उसी स्थिति ओर उसी कषाय-स्थान को धारण करने वाले जीव के दूसरा अनुभाग-स्थान होता हे। इसमे योगस्थान पूर्ववत् होते है। इस प्रकार असख्यात लोक प्रमाण अनुभाग स्थानो के होने तक तीसरे चोथे आदि अनुभाग स्थान क्रमश होते है। तात्पर्य यह है कि यहा स्थिति ओर कषाय स्थान तो जघन्य ही रहते है किन्तु अनुभाग स्थान क्रम से असख्यात लोक प्रमाण हो जाते है और एक-एक अनुभाग-स्थान के प्रति श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण योगस्थान होते हे। इसके वाद उसी स्थिति को प्राप्त होने वाले जीव के दूसरा कपाय स्थान होता हे। इसके अनुभाग-स्थान और योगस्थान पूर्ववत् रहते हे। इस प्रकार असख्यात लोक प्रमाण कषाय स्थानो के होने तक तीसरे चौथे आदि कषाय स्थान जानना चाहिए। जिस प्रकार सवसे जघन्य स्थिति के कपाय आदि स्थान कहे हे, उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्य स्थिति के भी कषाय आदि स्थान जानना चाहिए ओर इसी प्रकार एक एक समय अधिक के क्रम से तीस

कोडा-कोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तक प्रत्येक स्थिति के भी कषाय आदि स्थान जानना चाहिए। इस प्रकार सभी मूल और उत्तर प्रकृतियो के परिवर्तन का क्रम जानना चाहिए। यह सव मिलकर एक भाव-परिवर्तन होता हे। आशय यह है कि इस जीव ने मिथ्यात्व के वशीभूत होकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश-वध के कारणभूत जितने प्रकार के परिणाम या भाव है उन सबका अनुभव करते हुए भाव-परिवर्तन रूप ससार मे अनेक बार भ्रमण किया है।

भाव-पूजा—अर्हन्तादि के गुणो का चिन्तवन करना भाव-पूजा है।

भावलिग—देखिए लिग।

भाव-श्रुत—देखिए श्रुतज्ञान।

भाव-सत्य—हिसा आदि दोप रहित अयोग्य वचन भी भाव-सत्य हे। जेसे—किसी ने पूछा कि 'चोर देखा' तो देखने के उपरात भी कह देना कि 'नहीं देखा'।

भाव-सामायिक—सव जीवो के प्रति मैत्री-भाव रखना और अशुभ-भावो का त्याग करना भाव-सामायिक है।

भाव-स्तव—जिनेन्द्र भगवान के गुणो का स्मरण करना भाव-स्तव है।

भावानुराग—धर्मात्मा और धर्म का सम्मान/गौरव कम न हो ऐसी भावना होना भावानुराग कहलाता है।

भावेन्द्रिय—जो लब्धि और उपयोग रूप है वह भावेन्द्रिय है। जिसके ससर्ग से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना करने के लिए तत्पर होता हे ऐसे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं तथा लब्धि

के अवलम्वन से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते है।

भाषा-समिति–हित, मित और प्रिय वचन बोलना भाषा-समिति है। यह साधु का एक मूलगुण है।

भूमि-स्पर्श–यदि आहार के समय साधु के हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाए तो यह भूमि-स्पर्श नाम का अन्तराय है।

भेदविज्ञान–शरीर आदि 'पर' द्रव्यो से आत्मा भिन्न है–ऐसा अनुभव या ज्ञान होना भेद-विज्ञान है।

भोग–जो वस्तु एक ही बार भोगने मे आती है उसे भोग कहते है। जैसे अन्न, पान, गध, माला आदि।

भोग-भूमि–जहा कृषि आदि कार्य किये बिना दस प्रकार के कल्पवृक्षो से प्राप्त भोग-उपभोग की सामग्री के द्वारा मनुष्यो की उपजीविका चलती है उसे भोगभूमि कहते है। भोगभूमि मे नगर, कुल, वर्णाश्रम आदि की पद्धति नहीं होती। यहा युगल सतान उत्पन्न होती है जो पति-पत्नी के रूप मे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करती है। यहां उत्पन्न होने वाले मनुष्य और तिर्यंच सुखी, निरोगी और मृदु स्वभावी होते है और मरणोपरान्त स्वर्ग जाते हैं।

भोगान्तराय–जिस कर्म के उदय से जीव भोगने की इच्छा करता हुआ भी नहीं भोग पाता उसे भोगान्तराय कर्म कहते है।

भोगोपभोग-परिमाण–प्रतिदिन भोजन, वस्त्र आदि भोग-उपभोग की सामग्री का परिमाण करके शेष का त्याग कर देना भोगोपभोग-परिमाण व्रत कहलाता है।

भोजन-सपात–साधु को आहार देते समय दाता के हाथ से यदि आहार सामग्री नीचे गिर जाए तो यह भोजन-सताप नाम का अतराय है।

भौम-निमित्त–पृथिवी की सघनता, स्निग्धता आदि गुणो का विचार करके जो तावा, सोना, चादी आदि धातुओ की हानि-वृद्धि का ज्ञान होता है वह भौम-निमित्त-ज्ञान कहलाता है।

भ्रमराहार–जिस प्रकार भोरा, फूलो को बाधा पहुचाए विना रस ग्रहण करता हे उसी प्रकार साधु, दाता को वाधा पहुचाए विना उसके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करते है, इसलिए साधु की यह आहार-चर्या भ्रमराहार या भ्रामरीवृत्ति कहलाती है।

म

मङ्गल—जो पापरूपी मल को गलाता है अथवा जो सुख या पुण्य को लाने वाला है वह मङ्गल कहलाता है। अर्हन्त आदि का गुणगान करना पारलौकिक मगल है। पीली सरसो, पूर्णकलश आदि लौकिक मगल है। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए, इच्छित फल की प्राप्ति के लिए, शिष्टाचार के पालन के लिए और पुण्य-वर्धन के लिए ग्रथ के प्रारभ मे मगल करने का विधान है। ग्रथ के प्रारभ मे मगल दो प्रकार से किया जाता है—निवद्ध मगल और अनिवद्ध मगल।

मज्जानुराग—साधर्मी जनो के प्रति ऐसा सुदृढ अनुराग होना जो विपत्ति या विपम परिस्थिति आने पर भी परस्पर अस्थि व मज्जा के समान न छूटे अर्थात् वना रहे, इसे मज्जानुराग कहते है।

मतिज्ञान—इन्द्रिय व मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—मतिज्ञान के भेद है और मति, स्मृति, सज्ञा, चिता, अभिनिवोध, प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदि इसके अपर नाम है।

मद—ज्ञान आदि के आश्रय से अपना वडप्पन जताना मद कहलाता है। यह आठ प्रकार का है—ज्ञान-मद, पूजा-मद, कुल-मद, जाति-मद, बल-मद, रूप-मद, तप-मद और ऋद्धि-मद।

मधुस्रावी ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ मे दिया गया रुखा-सूखा आहार भी मीठे स्वाद वाला हो जाता है उसे मधुस्रावी-ऋद्धि कहते है।

मध्य-लोक—समूचा लोक तीन भागो मे विभक्त है। इसके मध्य-भाग को मध्य-लोक कहते है। मध्य-लोक एक राजू चौडा और एक लाख योजन ऊचा हे। यह चूडी के आकार का है। इसमे अनगिनत द्वीप और समुद्र है जो परस्पर एक दूसरे से घिरे हुए है। मध्यलोक के बीचो-बीच एक लाख योजन अर्थात् चालीस करोड मील व्यास वाला प्रथम जम्बूद्वीप स्थित है। जम्बूद्वीप को घेरे हुए दो लाख योजन विस्तार वाला लवण समुद्र है। फिर घातकीखण्ड द्वीप, कालोदधि समुद्र, पुष्करवर द्वीप और अत मे स्वयभूरमण द्वीप और स्वयभूरमण समुद्र है। मनुष्य और तिर्यच जीव इस मध्यलोक मे ही पाए जाते है।

मन—नाना प्रकार के विकल्प-जाल को मन कहते है। अथवा गुण दोष का विचार व स्मरण आदि करना, यह मन का कार्य है। मन को अनिन्द्रिय या अन्त करण भी कहते है। मन दो प्रकार का हे—द्रव्य-मन और भाव-मन। हृदय मे आठ पाखुरी वाले कमल के आकार की पुद्गल सरचना रूप द्रव्य-मन है तथा जिसके द्वारा स्मृति, शिक्षा, आलाप आदि का ग्रहण होता है वह भाव-मन है।

मन-शुद्धि—आहारदान देते समय ईर्ष्या, क्रोध आदि अशुभ-भावो से दूर रहना और श्रद्धा, विनय आदि शुभ-भाव रखना यह दाता की मन-शुद्धि है।

मन.पर्यय—जो दूसरे के मन का आलम्बन लेकर उस मन मे स्थित पदार्थ को स्पष्ट रूप से जान लेता है वह मन पर्यय ज्ञान कहलाता है। मन पर्यय ज्ञान ऋद्धिधारी मुनि को ही होता है। यह दो प्रकार का है—ऋजुमति और विपुलमति।

मनोगुप्ति–राग-द्वेष-मोह आदि अशुभ-भावो का परिहार करना मनोगुप्ति है।

मनोज्ञ–1 अभिरूप को मनोज्ञ कहते हे। 2 लोक-सम्मत साधु को मनोज्ञ कहते है। 3 विद्वान्, वाग्मी, महाकुलीन आदिरूप से जो लोकप्रसिद्ध है उसे मनोज्ञ कहते है। 4 सस्कारवान् सम्यग्दृष्टि को मनोज्ञ कहते है।

मनोवल-ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अन्तर्मुहूर्त मे समस्त श्रुत का चिन्तन करने मे समर्थ होता है उसे मनोबल-ऋद्धि कहते हैं।

मन्त्र–1 जिसके द्वारा आत्मा का आदेश अर्थात् निजानुभव किया जाए वह मत्र है। 2 जिसके द्वारा परमपद मे स्थित आत्माओ का सत्कार किया जाए वह मत्र है। 3 जो गुप्त रूप से बोले जाते है उन्हे मत्र कहते है।

मंत्रोत्पादन-दोष–दाता को मत्र की महिमा वताकर और मत्र देने की आशा दिलाकर यदि साधु आहार प्राप्त करे तो यह मत्रोत्पादन-दोष है।

ममकार–आत्मा से भिन्न शरीर आदि मे मेरेपन का भाव या ममत्व भाव होना ममकार है।

मरण–प्राणो का वियोग होना मरण कहलाता है। जीव का मरण अनेक प्रकार से होता है। जीव के आयु आदि प्राणो का जो निरतर क्षय होता रहता है वह नित्य-मरण या आवीचि-मरण है। विष आदि के निमित्त से अकाल मे होने वाले मरण को अपवर्त्यायु-मरण या कदलीघात-मरण कहते है। पूर्ण आयु भोगकर होने वाला मरण

अनपवर्त्यायु-मरण कहलाता हे। मरण के मुख्य पाच भेद और भी हे—पण्डित-पण्डित-मरण, पण्डित-मरण, वाल-पण्डित-मरण, वाल-मरण और वाल-वाल-मरण।

मरण-भय—'मै जीवित रहू, कभी मेरा मरण न हो', इस प्रकार मरण के विपय मे जो भय होता हे वह मरण-भय हे।

मल-परीषह-जय—जीवन पर्यन्त स्नान न करने की प्रतिज्ञा करने वाले निर्गथ साधु के शरीर पर पसीना और धूलि के कारण स्वाभाविक रूप से जो मैल जमा हो जाता है उस संचित मैल से उत्पन्न होने वाली वाधा को समता-भाव से सहन करना मल-परीपह-जय हे।

मल-दोष—शका काक्षा आदि दोपो से क्षयोपशम-सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता हे यह सम्यग्दर्शन का मल-दाप कहलाता हे।

मलौषधि-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के जिह्वा, ओठ, नाक, आदि का मल जीवो के रोग दूर करने मे समर्थ होता है वह मलोपधि-ऋद्धि है।

मल्लिनाथ—उन्नीसवे तीर्थंकर। ये इक्ष्वाकुवशी राजा कुभ की रानी प्रजावती के पुत्र थे। इनकी आयु पचपन हजार वर्ष ओर शरीर पच्चीस धनुप ऊचा था। देह की कान्ति स्वर्ण के समान थी। अपने विवाह के लिए सजाए गये नगर को देखकर इन्हे अपने पूर्व भव का स्मरण हो गया ओर इन्होने विरक्त होकर जिनदीक्षा ले ली। छ दिन की तपस्या के उपरात इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके सघ मे अट्ठाईस गणधर, चालीस हजार मुनिराज, पचपन हजार आर्यिकाए, एक लाख श्रावक ओर तीन लाख श्राविकाए थीं। सम्मेदशिखर से इन्होने मोक्ष

प्राप्त किया।

महाकल्प–काल और सहनन की अपेक्षा साधु के योग्य द्रव्य, क्षेत्र आदि का वर्णन करने वाला महाकल्प या महाकल्प्य नाम का अङ्गबाह्य है।

महापुण्डरीक–जिसमे समस्त इन्द्र और प्रतीन्द्रो मे उत्पन्न होने मे कारणभूत तपश्चरण आदि का वर्णन किया गया हो वह महापुण्डरीक नाम का अङ्गबाह्य है।

महापुरुष–1 जो पीडित किए जाने पर भी कठोर वचन या अपशब्द नहीं बोलते वह महापुरुष है। 2 जैनागम मे चौबीस तीर्थकर, नौ प्रतिनारायण, नौ वलभद्र, वारह चक्रवर्ती, चौबीस कामदेव, चौदह कुलकर, ग्यारह रुद्र, नो नारद और तीर्थकर के माता-पिता–ये एक सौ उन्हत्तर महापुरुष कहे गए है।

महावीर-स्वामी–अंतिम चोवीसवे तीर्थकर। ये वैशाली के राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी (त्रिशला) के पुत्र थे। इनकी आयु बहत्तर वर्ष की थी और शरीर सात हाथ ऊचा था। निरतर वढने वाले गुणो के कारण ये वर्धमान कहलाते थे। सगम देव ने जव इन पर उपसर्ग किया तव इनकी निर्भयता देखकर इन्हे महावीर कहा। तीव्र तपश्चरण करने से ये लोक मे अतिवीर कहलाये। सजय-विजय नाम के ऋद्धिधारी मुनियो को इनके दर्शन से समाधान मिला इसलिए इन्हे सन्मति नाम दिया गया। शरीर का अनन्त बल देखकर इन्हे 'वीर' कहा गया। तीस वर्ष की अवस्था मे इन्होने जिनदीक्षा ग्रहण की। वारह वर्ष की तपस्या के उपरात इन्हे केवलज्ञान हुआ। गणधर

के अभाव मे छयासठ दिन तक इनकी दिव्यध्वनि नहीं हुई। इन्द्रभूति गोतम के आने पर और शिष्यत्व स्वीकार करने पर दिव्यध्वनि प्रारभ हुई। इनके सघ मे इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह गणधर, चोदह हजार मुनि, छत्तीस हजार आर्यिकाए, एक लाख श्रावक व तीन लाख श्राविकाए थीं। इन्होने पावापुर से मोक्ष प्राप्त किया।

महाव्रत–हिसादि पाच पापो का मन, वचन, काय से जीवन-पर्यंत के लिए त्याग करना महाव्रत है। अहिसा, सत्य, अचोर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच महाव्रत हैं।

महिमा-ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अपने शरीर को मेरुपर्वत के वरावर वनाने मे समर्थ होते हे वह महिमा-ऋद्धि है।

मासादि-दर्शन–आहार के समय यदि साधु को मासादि दिख जाए तो यह मासादि-दर्शन नाम का अतराय है।

माध्यस्थ-भाव–रागद्वेषपूर्वक पक्षपात नहीं करना माध्यस्थ-भाव है। माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, वीतरागता ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं।

मान–1 दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न होना मान है। अथवा दूसरे के प्रति तिरस्कार रूप भाव होना मान कहलाता हे। 2 मान का अर्थ तौल या माप भी है।

मानदोष–साधु यदि अभिमान प्रगट करके आहार लेता हे तो यह मान नामक दोष है।

मानस-आहार—देवों को आहार की इच्छा होते ही कण्ठ में अमृत झरने लगता है। यह मानस-आहार कहलाता है।

मानसिक-विनय—धर्म-कार्य में मन लगाना तथा पाप कार्य के विचार से मन को बचाना मानसिक-विनय है। अथवा पूज्य पुरुषों के प्रति आदर-भाव रखना मानसिक-विनय है।

मानस्तम्भ—तीर्थंकरों के समवसरण में प्रवेश करने से पहले प्रत्येक दिशा में जो तीर्थंकर के शरीर की ऊंचाई से बारह गुनी ऊंची स्तम्भ के आकार की सुंदर रचना होती है उसे मानस्तम्भ कहते हैं। चूंकि दूर से ही इसके दर्शन मात्र से मिथ्यादृष्टि जीव अभिमान से रहित हो जाते हैं अतः इसका मानस्तम्भ नाम सार्थक है। सभी मानस्तंभ मूल में वज्रद्वारों से युक्त होते हैं, मध्य-भाग में वृत्ताकार होते हैं और ऊपर चारों दिशाओं में चमर, घण्टा आदि से विभूषित एक-एक जिन-प्रतिमा से युक्त होते हैं। अकृत्रिम चैत्यालयों में भी इसी तरह मानस्तम्भ की रचना होती है।

मानुषोत्तर पर्वत—मध्यलोक में पुष्करवर द्वीप के बीचोंबीच चूड़ी के समान गोल आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत है। यह अनादि-अनिधन है। इस पर्वत के बाहर मनुष्यों का गमन नहीं होता।

माया—माया का अर्थ छल, कपट या कुटिलता है। दूसरे को ठगने के लिए जो छल, कपट आदि किए जाते हैं वह माया है।

माया-क्रिया—ज्ञान-दर्शन आदि के विषय में छल करना माया-क्रिया है।

माया-दोष–साधु यदि छलपूर्वक आहार ले तो यह माया नाम का दोष है।

मायागता-चूलिका–जिसमे इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मत्र और तपश्चरण का वर्णन किया गया है वह मायागता-चूलिका है।

माया-शल्य–यदि जीव बाह्य मे वगुले जैसा उज्ज्वल वेष धारण करके अतरग मे दूषित भाव रखता है तो यह माया-शल्य कहलाती है।

मारणान्तिक-समुद्घात–मरण के समय अपने वर्तमान शरीर को न छोडकर आगे जहा उत्पन्न होना है उस क्षेत्र तक आत्मा के प्रदेशो का फैलना मारणान्तिक-समुद्घात है।

मारुत-चारण ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अनेक प्रकार की गतिवाली वायु की प्रदेश पंक्ति पर पैर रखते हुए निर्बाध रूप से गमन करने मे समर्थ होते है वह मारुत-चारण ऋद्धि कहलाती हे।

मारुती-धारणा–आग्नेयी-धारणा के उपरात वह योगी आकाश मे पूर्ण होकर विचरण करते हुए महावेगवान वायुमडल का चिन्तवन करे। इस प्रवल वायुमडल ने अग्नि मे जले शरीर आदि की भस्म को उडा दिया है और फिर वायु शात हो गई हे–ऐसा चिन्तवन करे, यह मारुती-धारणा है।

मार्गणा–मार्गणा का अर्थ खोजना या अन्वेषण करना है। जीव जिन भावो के द्वारा खोजे जाते है या जिन पर्यायो मे खोजे जाते हे उसे मार्गणा कहते है। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सज्ञी ओर आहारक–ये चोदह मार्गणाए

है।

मार्ग-प्रभावना–ज्ञान, ध्यान, तप और जिनपूजा आदि के माध्यम से जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बताए गए मोक्षमार्ग को प्रकाशित करना मार्ग-प्रभावना हे। यह सोलह कारण भावना मे एक भावना है।

मार्ग-सम्यग्दर्शन–वीतराग-मोक्षमार्ग के सुनने मात्र से जो सम्यग्दर्शन होता है वह मार्ग-सम्यग्दर्शन है।

मार्दव–मृदुता का भाव होना मार्दव है। अथवा मान के अभाव का नाम मार्दव है। अथवा अपने कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप आदि का अभिमान नहीं करना मार्दव-धर्म है।

मालारोहण–लकडी की बनी हुई सीढी या पैडी से ऊपर चढकर वहा रखे हुए लड्डू आदि लाकर साधु को आहार मे देना मालारोहण नाम का दोष है।

मित्र–जो निस्वार्थ भाव से हित करे वह मित्र है अथवा जो पाप से बचाए वह मित्र है।

मिथ्या-एकान्त–अनेक धर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही धर्म का कथन करके शेष सभी धर्मों का निषेध कर देना मिथ्या-एकात है।

मिथ्याचारित्र–अर्हन्त भगवान के द्वारा बताए गए वीतराग मोक्षमार्ग से विपरीत मार्ग पर चलना मिथ्याचारित्र है।

मिथ्याज्ञान–मिथ्यात्व के सद्भाव मे होने वाला ज्ञान, मिथ्याज्ञान कहलाता हे। जिस प्रकार कडवी तूमडी मे रखा हुआ दूध कडवा हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के निमित्त से मतिज्ञान आदि मिथ्या

हो जाते हैं। कुमति, कुश्रुत और विभंग-अवधिज्ञान ये तीनों मिथ्याज्ञान हैं।

मिथ्यात्व-क्रिया—मिथ्यात्व के उदय में जो राग-द्वेष से मलिन देवी-देवताओं की स्तुति रूप क्रिया होती है वह मिथ्यात्व-क्रिया है।

मिथ्यादर्शन—मिथ्यात्व-कर्म के उदय से जो समीचीन तत्त्वों के विषय में अश्रद्धान होता है वह मिथ्यादर्शन है। अथवा अर्हन्त भगवान के द्वारा बताए गए मार्ग से विपरीत मार्ग में श्रद्धान होना मिथ्यादर्शन है।

मिथ्यादर्शन-क्रिया—मिथ्यादर्शन के साधनों से युक्त पुरुष की प्रशंसा आदि करके उसे मिथ्यात्व में दृढ़ करना मिथ्यादर्शन-क्रिया है।

मिथ्यादृष्टि—मिथ्यात्व-कर्म के उदय से वशीकृत जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। अथवा जो दोषयुक्त देव को, हिंसा से युक्त धर्म को और परिग्रह में लिप्त गुरु को मानता है और आदर-सत्कार करता है वह मिथ्यादृष्टि है। अथवा जो निष्परिग्रह यथाजात निर्ग्रंथ रूप को देख कर मात्सर्य करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

मिथ्याशल्य—मिथ्यात्व में रुचि रखते हुए व्रतों का पालन करना मिथ्याशल्य है।

मिश्रगुणस्थान—दही और गुड़ के मिश्रित स्वाद के समान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व से मिश्रित-भाव को सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं। सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से जीव का तत्त्व के विषय में श्रद्धान और अश्रद्धान-भाव युगपत् होता है इसलिए इसे मिश्रभाव या मिश्र गुणस्थान भी कहते हैं।

मिश्रदोष--प्रासुक तेयार हुआ आहार अन्य वेपधारियो तथा गृहस्थो के साथ-साथ सयमी साधुओ को भी देने का सकल्प करना मिश्रदोप है।

मुनि--मनन मात्र भाव-स्वरूप होने से साधु को मुनि कहते है। अथवा अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियो को मुनि कहा है। श्रमण, सयत, ऋषि, मुनि, यति, साधु, वीतराग, अनगार ये सभी एकार्थवाची शब्द है।

मुनिसुव्रतनाथ--बीसवे तीर्थकर। मगध देश के राजगृह नगर मे राजा सुमित्र और माता सोमा के यहा इनका जन्म हुआ। इनकी आयु तीस हजार वर्ष थी और शरीर बीस धनुष ऊचा मयूरकठ के समान नीली आभा वाला था। पद्रह हजार वर्ष तक राज्य करने के उपरात यागहस्ती नामक हाथी को देशव्रतो का पालन करते देखकर इन्हे वेराग्य हो गया और गृहत्याग कर जिनदीक्षा ले ली। ग्यारह माह की तपस्या के उपरात इन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इनके सघ मे अठारह गणधर, तीस हजार मुनि, पचास हजार आर्यिकाए, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाए थीं। इन्होने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

मुमुक्षु--मोक्ष की इच्छा रखने वाले भव्य जीवो को मुमुक्षु कहते है। यह तीन प्रकार के होते है--परोपकार को प्रधानता देकर अपना उपकार करने वाले, अपने उपकार की प्रधानता से परोपकार करने वाले और मात्र अपना उपकार करने वाले।

मुहूर्त--दो घडी अर्थात् अडतालीस मिनिट का एक मुहूर्त होता है।

मूक-केवली--केवलज्ञान के उपरात जिनकी दिव्यध्वनि नही होती वे

मूक-केवली कहलाते हैं।

मूढ़ता–मूढता का अर्थ अविवेक है। यह तीन प्रकार की होती है–लोक-मूढता, देव-मूढता और गुरु-मूढता या समय-मूढता।

मूर्च्छा–लोक मे मूर्च्छा का प्रचलित अर्थ वेहोशी हे। जैनागम मे मूर्च्छा ,का अर्थ परिग्रह या ममत्व-भाव हे।

मूर्त–जो पदार्थ इन्द्रिय ग्राह्य है वे मूर्त हैं। अथवा जिसमे रूप रस आदि गुण पाए जाते हैं वह मूर्त है। छह द्रव्यो मे एकमात्र पुद्गल-द्रव्य मूर्त या रूपी है।

मूलकर्म-दोष–जो वश मे नहीं है उनको कैसे वश मे करना, अथवा जो स्त्री-पुरुष अलग-अलग हो गए है उनका कैसे सयोग कराना–ऐसे मत्र-तत्र आदि उपाय वताकर यदि साधु गृहस्थ से आहार प्राप्त करे तो यह मूल-कर्म-दोष है।

मूल-प्रायश्चित–साधु को पुन दीक्षा देना मूल-प्रायश्चित कहलाता है। अपरिमित दोष करने वाला जो साधु पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील या स्वच्छन्द होकर कुमार्ग मे स्थित है उसे यह प्रायश्चित दिया जाता है।

मृगचारी–जो साधु अकेले ही स्वच्छन्द रीति से विहार आदि करते है ओर जिनेन्द्र भगवान के वचनो को दूषित करते हैं उनको मृगचारी या स्वच्छन्द कहा गया है।

मृषानन्दी–तीव्र कषाय के वशीभूत होकर दूसरे को ठगने के लिए वडी चतुराई से झूठ बोलने की योजना बनाने मे लगे रहना और झूठ

बोलने मे आनन्द मानना मृषानन्दी नाम का रौद्रध्यान है।

मेघचारण ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु बादलो मे स्थित जलकायिक जीवो की विराधना न करते हुए उनके ऊपर से जाने मे समर्थ होते है, उसे मेघचारण-ऋद्धि कहते है।

मैत्री–दूसरे को दुख न हो ऐसी भावना रखना मैत्री है।

मैथुन-संज्ञा–राग के वशीभूत होकर स्त्री और पुरुष मे जो परस्पर कामसेवन की इच्छा होती है उसे मेथुन-सज्ञा कहते है।

मोक्ष–समस्त कर्मो से रहित आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था का नाम मोक्ष है। जब आत्मा कर्म मल कलक और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो स्वाभाविक अनन्त ज्ञानादि गुण रूप और अव्याबाध सुख रूप अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते है।

मोक्षमार्ग–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र–इन तीनो की एकता ही मोक्षमार्ग है। निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। निश्चय-मोक्षमार्ग निर्विकल्प निजशुद्धात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान्, ज्ञान और अनुचरण रूप अभेद रत्नत्रयात्मक है तथा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए सात तत्त्वो के श्रद्धान व ज्ञान तथा अहिसा आदि व्रतो के पालन रूप भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहार-मोक्षमार्ग है। व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय-मोक्षमार्ग का साधन माना गया है क्योंकि कोई भी साधक पहले सविकल्प रहकर ही आगे निर्विकल्पता को प्राप्त करता है।

के समय जो विजली की चमक के समान क्षण भर को दिखाई देता है उस साधु के यह याचना-परीषह-जय है।

योग–मन, वचन और काय के द्वारा होने वाले आत्म-प्रदेशो के परिस्पन्दन को योग कहते है। अथवा मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के लिए जीव का प्रयत्न विशेष ही योग कहलाता है। योग तीन प्रकार का है–मनो-योग, वचन-योग और काय-योग। ये तीनो योग शुभ व अशुभ दोनो रूप होते हैं।

योजन–चार कोस का एक योजन होता है। दो हजार कोस का एक महायोजन होता है। योजन का प्रयोग जीवो के शरीर, नगर, मंदिर आदि को मापने मे होता है तथा महायोजन के द्वारा पर्वत, द्वीप, समुद्र आदि को मापते है।

योनि–जिसमे जीव जाकर उत्पन्न होता है उसे योनि कहते है। सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, सवृत, विवृत आदि के भेद से योनि अनेक प्रकार की है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति के भेद से योनि के चौरासी लाख भेद है।

र

रति–जिस कर्म के उदय से जीव इन्द्रिय-विषयो मे आसक्त होकर रमता है उसे रति कहते है। अथवा मनोहर वस्तुओ के प्रति अत्यत प्रीति होना रति है।

रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र–इन तीन गुणो को रत्नत्रय कहते है।

रसना–जिसके द्वारा स्वाद लिया जाता है अथवा जो स्वाद को ग्रहण करती है वह रसना या जिह्वा इन्द्रिय है।

रस-नामकर्म–1 जिस कर्म के उदय से जीवो के शरीर मे खट्टा, मीठा आदि रस उत्पन्न होता है उसे रस-नामकर्म कहते है। तिक्त, मधुर, कटुक, कसायला और खट्टा–ये पाच रस है। 2 घी, दूध, दही–ये गोरस हैं। गुड, शक्कर आदि इक्षुरस है। द्राक्षा, आम आदि फल-रस है। तेल, माड आदि को धान्य-रस माना गया है।

रस-परित्याग–भोजन मे दूध, दही, घी, तेल, गुड और नमक इन छह रसो का या इनमे से किसी एक-दो रसो का त्याग करना रस-परित्याग नाम का तप है।

राग–इष्ट पदार्थों मे प्रीति या हर्ष रूप परिणाम होना राग है। राग दो प्रकार का है–प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग।

राजर्षि–जो साधु विक्रिया-ऋद्धि और अक्षीण-ऋद्धि के धारक होते है वे राजर्षि कहलाते है।

राजसिक-दान–जो दान कवल अपने यश और ख्याति के लिए किया गया हो, जो थोडे समय के लिए सुदर ओर चकित करने वाला हो तथा दूसरे के द्वारा दिलाया गया हो वह राजसिक-दान हे।

रात्रि-भुक्ति-त्याग-प्रतिमा–सचित्त-त्याग नामक पाचवीं प्रतिमा धारण करने के उपरात जीवन पर्यन्त के लिए मन, वचन, काय से रात्रि मे अन्न, जल आदि चारो प्रकार के आहार का त्याग कर देना यह श्रावक की रात्रि-भुक्ति-त्याग नामक छठवीं प्रतिमा हे।

रुद्र–जिनदीक्षा लेने के उपरात कर्म के तीव्र उदय से विषय-वासनावश सयम से भ्रष्ट होकर रोद्र-कार्य करने वाले रुद्र कहलाते हे। ये दसवे विद्यानुप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन करते समय विषयासक्त होकर तप से भ्रष्ट हो जाते हे और नरकगामी होते हे। रुद्र ग्यारह हुए हे।

रुधिर-अन्तराय–आहार करते समय यदि साधु को अपने शरीर से अथवा दूसर के शरीर से रक्त वहता हुआ दिख जाए तो यह रुधिर नाम का अन्तराय है।

रूपगता–जिसमे सिह, घोडा, हरिण आदि की आकृति धारण करने के कारणभूत मत्र, तत्र एव तपश्चरण का तथा चित्र, काष्ठ, लेप्य और लयनकर्म के लक्षण का वर्णन किया गया हे उसे रूपगता-चूलिका कहते हे।

रूप-सत्य–पदार्थ के अभाव मे मात्र रूप की अपेक्षा उसका कथन करना जेसे–चित्र मे वन पुरुष को पुरुष कहना रूप-सत्य हे।

रूपस्थ-ध्यान–समवसरण के मध्य मे स्थित अनन्त चतुष्टय स

समन्वित अर्हन्त भगवान का जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ-ध्यान कहते है।

रूपातीत-ध्यान–रूपस्थ-ध्यान मे निष्णात योगी के द्वारा जो सिद्ध परमेष्ठी का या शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है वह रूपातीत ध्यान है।

रोग-परीषह-जय–शरीर मे एक साथ अनेक रोग हो जाने पर भी जो साधु उपचार की इच्छा नहीं करते और रोगजन्य पीडा को समता-पूर्वक सहन करते है उनके यह रोग-परीषह-जय है।

रोधन-अन्तराय–आहार-चर्या के समय यदि साधु को किसी के द्वारा आहार का निषेध किया जाता है तो यह रोधन नाम का अतराय होता है।

रौद्रध्यान–रुद्र का अर्थ क्रूर आशय हे। क्रूर आशय से किया गया कर्म रौद्र है। हिसा करने मे आनन्द मानना, झूठ बोलने मे आनन्द मानना, चोरी करने और परिग्रह जोडने मे आनन्द मानना रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान चार प्रकार का हे–हिसानदी, मृषानदी, चौर्यानदी और परिग्रहानदी।

ल

लक्षण–जिसके द्वारा परस्पर सम्मिलित वस्तुओ मे से किसी वस्तु विशेष का प्रथक्करण हो वह उसका लक्षण कहलाता है। वह गुण या चिन्ह जिसके द्वारा वस्तु की अलग पहचान होती है, लक्षण कहलाता हे। लक्षण, धर्म, गुण, स्वभाव व प्रकृति–ये सभी एकार्थवाची हैं। लक्षण के दो भेद है–आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण।

लक्षण-निमित्तज्ञान–हाथ, पैर व माथे की रेखाए और अन्य चिह्न देखकर दुख-सुख आदि जान लेना लक्षण-निमित्त-ज्ञान हैं।

लघिमा-ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अपने शरीर को वायु से भी हल्का वनाने मे समर्थ होते है वह लघिमा-ऋद्धि है।

लब्धि–1 तप विशेष से प्राप्त होने वाली ऋद्धि को लब्धि कहते हे। 2 जिसके ससर्ग से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना करने के लिए तत्पर होता हे ऐसे ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। 3 घातिया कर्म के क्षय से अर्हन्त भगवान के क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र–ये नव केवल लब्धिया होती हैं। 4 उपशम सम्यक्त्व सवधी लब्धिया पाच है–क्षयोपशम-लब्धि, विशुद्धि-लब्धि, देशना-लब्धि, प्रायोग्य-लब्धि और करण-लब्धि। प्रथम चार लब्धिया भव्य-अभव्य दोनो के होती हे किन्तु करण-लब्धि भव्य-जीव को ही होती हे।

लब्ध्यपर्याप्तक–अपर्याप्तक-नामकर्म के उदय से जो जीव अपने योग्य

काय की प्रवृत्ति को भाव-लेश्या कहते हे।

लेह्य–रवडी, मलाई आदि जो आहार चाटकर खाया जाता हे उसे लेह्य कहते है।

लोक–1 जिसमे जीव आदि छह द्रव्य पाये जाते है उसे लोक अथवा लोकाकाश कहते हे। उससे वाहर सर्वत्र अनन्त अलोकाकाश है।

लोकबिंदुसार–जिसमे आठ व्यवहार, चार वीज-राशि, परिकर्म आदि गणित और समस्त श्रुत सम्पदा का वर्णन हे वह लोकविंदुसार नामक चौदहवा पूर्व हे।

लोकमूढ़ता–अधविश्वास से प्रेरित होकर प्रयोजन का विचार किए विना लोकिक कार्य करना लोकमूढता है। जैसे–नदी या समुद्र आदि मे स्नान करना, वालू व पत्थरो का ढेर लगाना, पर्वत से गिरना तथा अग्नि मे जलना आदि कार्यो को धर्म समझकर करना लोकमूढता है।

लोकानुप्रेक्षा–'अनन्त अलोकाकाश के मध्य मे पुरुषाकार लोक स्थित हे। जीव आदि छह द्रव्यो से यह लोक बना हे, उसे न किसी ने बनाया हे, न कोई इसे धारण किए हे ओर न ही कोई इसे मिटाने वाला है, यह लोक अनादि-अनन्त है'–इस प्रकार लोक के स्वरूप का बार-बार चिन्तवन करना लोकानुप्रेक्षा है।

लोभ–धन पेसा आदि की तीव्र लालसा या गृद्धि होना लोभ हे। अथवा पर पदार्थो मे 'यह मेरा हे'–इस प्रकार की राग रूप वुद्धि होना लोभ हे। लोभ चार प्रकार का है–जीवन-लोभ, आरोग्य-लोभ, इन्द्रिय-लोभ और उपभोग-लोभ।

लोभ-दोष–यदि साधु लोभ प्रगट करके आहार प्राप्त करे तो यह लोभ

नाम का दोष हे।

लौकान्तिक–1 ब्रह्मलोक नामक पाचवे स्वर्ग के अत मे जिनका निवास है वे लोकान्तिक कहलाते हे। 2 लोक का अर्थ ससार हे, अत जिनके ससार का अत निकट हे वे लौकान्तिक हे। लोकान्तिक देव एक भवावतारी होते है अर्थात् मरणोपरात एक मनुष्य भव पाकर मुक्त हो जाते हे। भोग-विलास से विरक्त होने के कारण ये देवर्षि कहलाते हे। ये चोदह पूर्व के ज्ञाता है ओर मात्र दीक्षा-कल्याणक के अवसर पर तीर्थकरो के वेराग्य की प्रशसा करने मध्यलोक मे आते है।

व

वक्ता—शास्त्र के उपदेश-कर्ता को वक्ता कहते है। अथवा जिनमे ध्वनि या वाणी रूप बोलने की क्षमता प्रगट हो जाती है ऐसे द्वीन्द्रिय से लेकर सज्ञी-पचेन्द्रिय तक सभी जीव वक्ता हैं। मोक्षमार्ग मे तीन ही वक्ता हे—सर्वज्ञ तीर्थंकर या सामान्य केवली भगवान, श्रुतकेवली महाराज और परपरा-आचार्य।

वचन-गुप्ति—पाप रूप असत्य वचनो का त्याग करना या मौन धारण करना वचन-गुप्ति है।

वचन-शुद्धि—पीडादायक, कठोर या असभ्य-वचन नहीं बोलना तथा हित मित ओर मधुर-वचन बोलना वचनशुद्धि है।

वचन-बल-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु एक मुहूर्त मात्र काल के भीतर सपूर्ण श्रुत को सहज शुद्ध रूप से उच्चारण करने मे समर्थ होते हैं उसे वचन-बल-ऋद्धि कहते हैं।

वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर मे वज्र के समान अभेद्य हड्डियो के ऊपर वज्र का ही वेष्ठन होता हे और हड्डिया परस्पर वज्रमय नाराच अर्थात् कील से जुडी होती हे ऐसा हड्डियो का सुदृढ बधन वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन कहलाता है।

वज्रनाराच-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर मे वज्रमय हड्डिया दोनो ओर वज्रमय नाराच अर्थात् कील से जुडी होती है उसे वज्रनाराच-सहनन कहते हैं।

वध-परीषह-जय–तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्र आदि के द्वारा घात किये जाने पर मारने वाले के प्रति जो साधु लेशमात्र भी आक्रोश नहीं करते और इसे अपने पूर्वकृत कर्म का फल मानकर समता-पूर्वक सहन करते हैं उनके यह वध-परीषह-जय है।

वनस्पति-काय–वनस्पतिकायिक जीव के द्वारा छोडा गया शरीर अर्थात् निर्जीव वनस्पति को वनस्पति-काय कहते है।

वनस्पतिकायिक–वनस्पति ही जिसका शरीर है उसे वनस्पतिकायिक कहते हैं। वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं–साधारण-वनस्पति और प्रत्येक वनस्पति।

वनस्पति-जीव–जो जीव वनस्पतिकायिक मे उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति मे जा रहा है उसे वनस्पति-जीव कहते है।

वनीपक-दोष–कुत्ता, कौवा या पाखण्डी साधु आदि को दान देने से पुण्य होता है–ऐसा दाता के अनुकूल वचन बोलकर यदि साधु आहार ग्रहण करे तो यह वनीपक नाम का दोष है।

वन्दना–1 एक तीर्थकर की स्तुति करना वन्दना कहलाती है। 2 जिसमे एक तीर्थकर सबधी और उन तीर्थकर के अवलम्बन से जिनालय सबधी वन्दना का वर्णन है वह वन्दना नाम का अङ्गबाह्य है।

वर्ग–सबसे जघन्य गुण वाले प्रदेश के अविभागी प्रतिच्छेदो के समूह को वर्ग कहते है।

वर्गणा–वर्गो के समूह को वर्गणा कहते है अथवा समान गुण वाले परमाणु-पिण्ड को वर्गणा कहते है।

वर्णनामकर्म—जिसके उदय से शरीर मे श्वेत आदि वर्ण अर्थात् रग की उत्पत्ति होती हे उसे वर्णनामकर्म कहते हे। वर्ण पाच प्रकार के हे—श्वेत, पीत, रक्त, नील ओर कृष्ण वर्ण।

वर्तना—द्रव्य मे प्रति समय होने वाले परिवर्तन मे जो सहकारी है उसे वर्तना कहते है। यह काल-द्रव्य का उपकार है।

वषट्—पूजा करते समय वषट् पद के द्वारा भगवान को अपने निकट स्थापित किया जाता हे। यह एक वीज-पद हे।

वशित्व-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु जीवसमूह को वश मे करके उनका मनचाहा आकार आदि वनाने मे सक्षम होते हे वह वशित्व-ऋद्धि कहलाती हे।

वसतिका—साधुओ के ठहरने का स्थान वसतिका कहलाता है। ध्यान-अध्ययन के योग्य निर्दोष वसतिका मे ही साधु ठहरते हैं।

वस्तुत्व—वस्तु के भाव को वस्तुत्व कहते हे। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती हे ओर प्रत्येक वस्तु मे अर्थ क्रियाकारीपना पाया जाता हे।

वाचना—निर्दोष ग्रन्थ, ग्रन्थ का अर्थ या दोनो ही योग्य-पात्र को प्रदान करना वाचना हे। अथवा शिष्यों को पढाने का नाम वाचना हे। वाचना चार प्रकार की हे—नन्दा, जया, भद्रा और सौम्या-वाचना।

वाचिक-विनय—पूज्य वचनो से वोलना, हित रूप वोलना, थोडा वोलना, मिष्ट वोलना, आगम के अनुसार बोलना, कठोरता-रहित वोलना तथा अभिमान रहित वचन वोलना वाचिक-विनय है।

वातवलय—वृक्ष की त्वचा के समान समस्त लोक को घेरे हुए तीन

वातवलय है। सघन-वायु का वलय घनवातवलय कहलाता है, जलमिश्रित वायु का वलय घनोदधि के नाम से जाना जाता है तथा विरल वायु का वलय तनुवातवलय कहलाता है। सबसे पहले घनोदधि वातवलय लोक का आधार है, उसे घेरे हुए घनवातवलय और उसके उपरांत तनुवातवलय है। इस तरह समूचा लोक तीन वातवलयो से घिरा है ओर अलोकाकाश के मध्य स्थित है।

वात्सल्य–मुनि, आर्यिका, श्रावक ओर श्राविका रूप साधर्मी जनो से गाय-बछडे के समान स्वाभाविक स्नेह रखना सम्यग्दृष्टि का वात्सल्यगुण है।

वादित्व-ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु, इन्द्र के समान ज्ञानवान् ओर वाद-विवाद करन मे निपुण वादी को भी युक्तियुक्त समाधान के द्वारा निरुत्तर करने मे समर्थ हे उसे वादित्व-ऋद्धि कहते हे।

वामन-सस्थान–जिस कर्म के उदय से जीव का बोना शरीर होता हे वह वामन-सस्थान है।

वायु-काय–वायुकायिक जीवो से रहित वायु को वायुकाय कहते है।

वायुकायिक–वायु ही जिसका शरीर हे उसे वायुकायिक जीव कहते हे।

वायुजीव–जो जीव वायुकायिक मे उत्पन्न होने के लिए विग्रह गति म जा रहा हे उसे वायु-जीव कहते हे।

वारुणी-धारणा–मारुती-धारणा के उपरात्त वह योगी इन्द्रधनुप, बिजली, गर्जनादि सहित मघो स भर हुए आकाश का चितन कर फिर

उन मेघो को बडी-बडी बूदो मे निरतर बरसते हुए चितन करे। इस बरसते हुए जल से जो आग्नेयी-धारणा मे शरीर के जलने से भस्म उत्पन्न हुई थी उस भस्म का प्रक्षालन करता हुआ चिन्तन करे यह वारुणी-धारणा है।

वासुपूज्य—बारहवे तीर्थंकर। चम्पापुरी के राजा वसुपूज्य और रानी जयावती के यहा जन्म हुआ। इनकी आयु बहत्तर लाख वर्ष थी और शरीर सत्तर धनुष ऊचा था। शरीर की आभा कुकुम के समान लाल थी। कुमार काल के अट्ठारह लाख वर्ष बीत जाने पर ससार से विरक्त होकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। एक वर्ष की कठिन तपस्या के फलस्वरूप इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके सघ मे छियासठ गणधर, वहत्तर हजार मुनि, एक लाख छह हजार आर्यिकाए, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाए थीं। इनके पाचो कल्याणक चम्पापुरी मे हुए।

विकथा—धर्म-कथा से रहित मात्र अर्थ और काम-कथा करना विकथा कहलाती है। पापास्रव मे कारणभूत चार प्रकार की विकथा प्रसिद्ध है—स्त्री-कथा, राज-कथा, चोर-कथा और भोजन-कथा।

विकलेन्द्रिय—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीवो को विकलेन्द्रिय या विकलत्रय कहते हैं।

विकल्प—1 'मैं सुखी हू या मैं दुखी हू'—इस प्रकार जो अतरग मे हर्ष-विषाद रूप भाव होता है उसे विकल्प कहते है। 2 पदार्थ का प्रतिभास विकल्प कहलाता है या योग के परिवर्तन को विकल्प कहते हैं जैसे—'यह घडा हे या यह वस्त्र है' इस प्रकार एक के वाद एक

पदार्थ को जानने रूप विकल्प होता रहता है।

विक्रिया–छोटा, बडा, हल्का, भारी आदि अनेक प्रकार का शरीर बना लेना विक्रिया कहलाती है। यह दो प्रकार की है–पृथक्-विक्रिया और अपृथक् या एकत्व-विक्रिया। देव व नारकी जीवों को, तेजस्कायिक, वायुकायिक जीवों को तथा साधु को विक्रिया करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

विक्षेपणी-कथा–मिथ्या-मतो का निराकरण या शोधन करने वाली विक्षेपणी-कथा है।

विग्रहगति–विग्रह का अर्थ शरीर है। पूर्वभव के शरीर को छोडकर दूसरे नवीन शरीर को ग्रहण करने के लिए जीव जो गमन करता है उसे विग्रहगति कहते है। यह दो प्रकार की होती है–मोडवाली गति और बिना मोडे वाली गति।

विजयार्द्ध पर्वत–यह एक रमणीय पर्वत है। इस पर विद्याधरों का निवास है। यह पच्चीस योजन ऊचा, पचास योजन चोडा और सवा छह योजन गहरा है। इसका रग चादी के समान है। जम्बूद्वीप मे विदेह सम्बन्धी बत्तीस तथा भरत और ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी एक-एक ऐसे चौंतीस विजयार्ध पर्वत है। यहा कर्मभूमि के योग्य षट्कर्म होते है। विशेषता यह है कि यहा विद्याधर-मनुष्यो को जन्म से प्राप्त विद्याए इच्छानुसार फल देती है और सदा चौथा काल रहता है। चक्रवर्ती के दिग्विजय की आधी सीमा इसी पर्वत के द्वारा निर्धारित होती है इसलिए इस पर्वत का नाम विजयार्द्ध-पर्वत रखा गया है।

विजिगीषु-कथा—वादी और प्रतिवादी मे अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए हार-जीत होने तक जो परस्पर चर्चा होती हे उसे विजिगीषु-कथा कहते है।

विडौषधि-ऋद्धि—जिसके प्रभाव से साधु का मल-मूत्र भी जीवो के रोगो को नष्ट करने मे समर्थ होता है उसे विडोषधि ऋद्धि कहते है।

विदारण-क्रिया—दूसरे के पापकर्म को प्रकाशित करना विदारण-क्रिया है।

विदेह—देह रहित सिद्ध भगवान विदेह कहलाते है। अथवा देह मे रहते हुए भी जो जन्म-मरण से रहित है ऐसे अर्हन्त भगवान विदेह है।

विदेह-क्षेत्र—जम्बूद्वीप मे एक, धातकीखण्ड मे दो और पुष्करार्ध मे दो ऐसे पाच विदेह-क्षेत्र हे। इनमे प्रत्येक के बत्तीस-बत्तीस देश हे। इस प्रकार अढाई द्वीप मे कुल एक सौ साठ विदेह-देश है। यहा मनुष्यो की ऊचाई पाच सौ धनुष और आयु एक कोटि वर्ष पूर्व होती हे। तीर्थकर आदि शलाका-पुरुष और ऋद्धिधारी साधुओ का समागम सदा बना रहता है। प्रत्येक विदेह-देश मे तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुष यदि अधिक-से-अधिक होवे तो एक-एक होते है अर्थात् कुल एक सौ साठ होते हे। यदि कम-से-कम होवे तो एक विदेह-क्षेत्र मे चार और पाचो विदेह मे बीस तीर्थकर सदा विद्यमान रहते हे। यहा विदेही जन अर्थात् अर्हन्त भगवान सदा विद्यमान रहते हे। इसलिए इसका विदेह नाम सार्थक है।

विद्या-दोष—यदि साधु विद्या या मन्त्र आदि से आमंत्रित देवो के द्वारा आहार ग्रहण करे तो यह विद्या नामक दोष है।

विद्याधर–विजयार्द्ध पर्वत पर निवास करने वाले मनुष्य विद्याधर कहलाते है। विद्याधर लोग जाति, कुल और तप–इन तीन प्रकार की विद्याओ और देवपूजा, गुरूपास्ति आदि षट्कर्म से सम्पन्न होते है।

विद्यानुप्रवाद–जिसमे सर्व विद्याओ, आठ महानिमित्तो, क्षेत्र, श्रेणी, लोक-प्रतिष्ठा, समुद्घात आदि का वर्णन किया गया है वह विद्यानुप्रवाद-पूर्व नाम का दसवा पूर्व है।

विधान–विधान का अर्थ प्रकार या भेद है।

विनय–पूज्य पुरुषो का आदर करना विनय-तप है अथवा रत्नत्रय को धारण करने वाले पुरुषो के प्रति नम्रता धारण करना विनय है। विनय पाच प्रकार की है–ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, तप-विनय और उपचार-विनय। उपचार विनय तीन प्रकार की है–कायिक, वाचिक और मानसिक विनय।

विनय-सम्पन्नता–मोक्ष के साधनभूत सम्यग्ज्ञान आदि का और उसके साधक गुरुजनो का यथायोग्य रीति से आदर-सत्कार करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनय-सम्पन्नता है। यह सोलह कारण भावना मे एक भावना है।

विनयाचार–मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक शास्त्र को पढना विनयाचार है।

विपरीत-मिथ्यात्व–1 वस्त्र आदि परिग्रह से युक्त साधु को भी निर्ग्रन्थ मानना, केवली भगवान को कवलाहारी मानना तथा स्त्री भी सिद्ध होती है–ऐसी विपरीत मान्यता होना विपरीत-मिथ्यात्व है। 2 हिसा,

झूठ, चोरी या अज्ञान आदि से मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा मानना विपरीत-मिथ्यात्व है।

विपर्यय–देखिए विभ्रम।

विपाक–कर्म के फल को विपाक कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से उत्पन्न हुआ कर्म का विविध प्रकार का पाक अर्थात् फल ही विपाक कहलाता है। इसी को अनुभव भी कहते हैं।

विपाक-विचय–ससार मे जीवो को जो एक और अनेक भव मे पुण्य और पाप-कर्म का फल प्राप्त होता रहता है उसका बार-बार चिन्तवन करना विपाक-विचय नाम का धर्म-ध्यान है।

विपाक-सूत्राङ्ग–जिसमे पुण्य और पाप के विपाक अर्थात् फल का वर्णन किया गया है वह विपाक-सूत्राङ्ग है।

विपुलमति–विपुल का अर्थ विस्तीर्ण है। जो दूसरे के मन मे स्थित सरल और कुटिल सब बातो को जान लेता है वह विपुलमति मन -पर्यय-ज्ञान है। आशय यह है कि विपुलमति मन पर्यय ज्ञान के द्वारा सरल और कुटिल मन, वचन, कायगत अर्थ को तथा चिन्तित, अर्धचिन्तित, अचिन्तित व विपरीत चिन्तित सब प्रकार के चिन्ता, जीवन-मरण, दु ख-सुख आदि को जाना जा सकता है।

विभाव–स्वभाव से विपरीत परिणमन करना विभाव है। कर्म के उदय से होने वाले जीव के रागादि भावो को विभाव कहा गया है।

विभाव-पर्याय–'पर' द्रव्य के निमित्त से होने वाली पर्याय को विभाव-पर्याय कहते हे जेसे–जीव की देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि

पर्याय।

विभ्रम–1 वस्तु को विपरीत रूप मे ग्रहण करना विभ्रम है। जेसे–सीप को चादी और चादी को सीप कहना। 2 अनेक धर्मात्मक वस्तु को 'यह नित्य ही हे' या 'अनित्य ही है'–ऐसा सर्वथा एकधर्म रूप जानना विभ्रम है।

विमलनाथ–तेरहवे तीर्थंकर। काम्पिल्य नगर के राजा कृतवर्मा की रानी जयश्यामा के यहा इनका जन्म हुआ। इनकी आयु साठ लाख वर्ष थी। शरीर साठ धनुष ऊचा था और स्वर्ण के समान कान्तिमान था। हेमन्त ऋतु मे मेघ की शोभा को तत्क्षण विलीन होते देखकर विरक्त हो गए। जिनदीक्षा ले ली और तीन वर्ष की कठिन तपस्या के फलस्वरूप केवलज्ञान प्राप्त किया। इनके सघ मे पचपन गणधर, अडसठ हजार मुनि, एक लाख तीन हजार आर्यिकाए, दो लाख श्रावक व चार लाख श्राविकाए थी। इन्होने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

विमोह–देखिए अनध्यवसाय।

विरताविरत–देखिए सयतासयत या देशसयत।

विराग–पचेन्द्रिय के विषयो से विरक्त होने का नाम विराग है।

विरोधी-हिंसा–शत्रु से अपना वचाव करने के लिए जो हिसा होती है उसे विरोधी-हिसा कहते है।

विवक्षा–वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते है। प्रश्नकर्ता के प्रश्न से ही प्रतिपादन करने वाले की विवक्षा होती है।

विवाह–कन्या के वरण को विवाह कहते है। जैनागम मे केवल सन्तान

उत्पन्न करन की इच्छा से विवाह की स्वीकृति दी गई है क्योंकि सस्कारवान सन्तान के द्वारा धर्म की परम्परा का निर्वाह होता हे।

विविक्त शय्यासन–रागद्वेप उत्पन्न करने वाले आसन या शय्या का त्याग करके निर्बाध अध्ययन, ध्यान या ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए साधु के द्वारा जो एकान्त स्थान पर शय्या व आसन ग्रहण किया जाता हे वह विविक्त शय्यासन नाम का तप हे।

विवेक–1 जिस-जिस वस्तु के अवलम्वन से अशुभ परिणाम होते हे उसको त्याग देना अथवा उससे स्वय दूर होना विवेक नाम का प्रायश्चित हे। 2 दोपयुक्त साधु को गण, गच्छ, द्रव्य या क्षेत्र आदि से अलग करना विवेक नाम का प्रायश्चित हे।

विशुद्धि–सातावेदनीय कर्म के वन्धयोग्य परिणाम का नाम विशुद्धि हे। अथवा कषाय की मदता का नाम विशुद्धि है।

विशुद्धि-लब्धि–साता-वेदनीय आदि शुभकर्मो के वन्ध योग्य परिणाम या असाता आदि अशुभ कर्मो के वन्ध के विरोधी परिणाम का नाम विशुद्धि हे उसकी प्राप्ति होना विशुद्धि-लब्धि हे।

विषय–इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य पदार्थ को विषय कहते है। पाच रस, पाच वर्ण, दो गध, आठ स्पर्श ओर सात स्वर ऐसे सत्ताइस भेद इन्द्रिय सम्वन्धी विपयों के हें तथा अनेक विकल्प रूप एक विषय मन का हे, इस प्रकार कुल विषय अट्ठाइस हैं।

विसयोजना–अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया व लोभ को अन्य प्रकृति रूप अर्थात् अप्रत्याख्यान आदि वारह कपाय ओर हास्य आदि नो

नोकषाय रूप से परिवर्तित करना विसयोजना कहलाती है।

विस्तार-सम्यग्दर्शन–द्वादशाग रूप जिनवाणी मे वर्णित बारह अङ्ग और चौदह पूर्व को वहुत विस्तार से सुनकर जो सम्यग्दर्शन होता है वह विस्तार-सम्यग्दर्शन कहलाता है।

विहायोगति-नामकर्म–विहायस् का अर्थ आकाश है। जिस कर्म के उदय से भूमि का आश्रय लेकर या भूमि का आश्रय लिए बिना भी जीवो का आकाश मे गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म है। यह दो प्रकार का है–प्रशस्त और अप्रशस्त। हाथी, बैल, हस आदि की अच्छी चाल को प्रशस्त विहायोगति कहते है। ऊंट या सर्प आदि की अटपटी चाल को अप्रशस्त विहायोगति कहते है।

वीतराग–आत्म-साधना के द्वारा जिन्होने राग-द्वेष को नष्ट कर दिया है उन्हे वीतराग कहते है।

वीतराग-कथा–गुरु और शिष्य के बीच या रागद्वेष से विमुख विशेष विद्वानो के वीच तत्व के निर्णय होने तक जो चर्चा चलती है उसे वीतराग-कथा कहते है।

वीतराग-चारित्र–देखिए निश्चय-चारित्र।

वीतराग-सम्यक्त्व–देखिए निश्चय-सम्यग्दर्शन।

वीर्य-प्रवाद–जिसमे केवली भगवान की अनन्त शक्ति, इन्द्र आदि की ऋद्धिया, चक्रवर्ती, वलदेव आदि की सामर्थ्य और द्रव्य के लक्षण आदि का वर्णन किया गया है वह वीर्य-प्रवाद पूर्व नाम का तीसरा पूर्व है।

वीर्याचार–अपनी शक्ति को न छिपाकर उत्साहपूर्वक तप आदि

पचाचार का पालन करना वीर्याचार कहलाता है।

वीर्यान्तराय—द्रव्य की अपनी शक्ति विशेष का नाम वीर्य हे। जिस कर्म के उदय से जीव किसी कार्य के प्रति उत्साहित होने की इच्छा होते हुए भी उत्साहित नहीं हो पाता या असमर्थता का अनुभव करता है उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते हे।

वृत्ति-परिसख्यान—आहार के इच्छुक साधु का एक, दो घर आदि विपयक सकल्प करना वृत्ति-परिसख्यान नाम का तप हे। वृत्ति-परिसख्यान मे घर, दाता, वर्तन और भोजन इन चारो का परिसख्यान किया जाता है। जैसे—मे आज पाच घरो से अधिक नहीं जाऊगा या मै आज चार दाताओ से ही आहार लूगा या कासे के पात्र मे ही आज आहार लूगा अथवा आज चावल व मूग ही खाऊगा—ऐसी अनेक प्रकार की विधि या सकल्प लेना।

वेद—आत्मा मे जो मेथुन या कामसेवन रूप चित्त-विक्षेप उत्पन्न होता हे उसे वेद कहते हे। इसका दूसरा नाम लिग भी हे। वेद या लिग तीन प्रकार का हे—स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुसक वेद। यह तीनो वेद, द्रव्य व भाव रूप होते हे। नामकर्म के उदय से शरीर मे स्त्री-पुरुष के अनुरूप जो योनि, मेहन आदि की रचना होती हे वह द्रव्य-वद हे। स्त्री, पुरुप व नपुसक इन तीनो मे जो परस्पर एक दूसरे की अभिलाषा होती हे वह भाव-वेद हे। एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय पर्यत सब जीवो के एकमात्र नपुसक वेद है। मनुष्यो मे तीनो वेद हैं। देवो मे स्त्री पुरुष ये दो वेद है। नारकी जीव के एकमात्र नपुसक वेद है।

वेदक-सम्यक्त्व–दर्शन-मोहनीय कर्म की सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो तत्वार्थ-श्रद्धान होता हे वह वेदक सम्यक्त्व कहलाता हे। इसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन भी कहते है। सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय मे वेदक सम्यग्दृष्टि जीव शिथिल श्रद्धानी होता है और उसका सम्यग्दर्शन चल, मल और अगाढ दोष से युक्त होता रहता है।

वेदना-आर्तध्यान–अनुभव करने का नाम वेदना है। 'वेदना' सुख-दु ख दोनो रूप होती है पर यहा आर्तध्यान का प्रकरण होने से वेदना का अर्थ दु ख है। रोगादि जनित वेदना के होने पर उसे दूर करने की सतत चिन्ता करना वेदना नाम का आर्तध्यान हे।

वेदना-भय–रोगादि जनित वेदना के उत्पन्न होने की आशका से जो भय होता है उसे वेदना-भय कहते है।

वेदना-समुद्घात–अत्यन्त तीव्र वेदना होने पर जो आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर फेल जाते है उसे वेदना-समुद्घात कहते है।

वेदनीय कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव सुख-दुख का वेदन अर्थात् अनुभव करता है उसे वेदनीय कर्म कहते है। यह दो प्रकार का है–साता-वेदनीय व असाता-वेदनीय।

वैक्रियिक-शरीर–छोटा, वडा, हल्का, भारी अनेक प्रकार का शरीर वना लेना विक्रिया कहलाती हे। विक्रिया ही जिस शरीर का प्रयोजन हे वह वैक्रियिक-शरीर कहलाता हे। वेक्रियिक-शरीर उपपाद जन्म से पैदा होता हे तथा ऋद्धि से भी प्राप्त होता है।

वैक्रियिक-समुद्घात–विक्रिया करने के लिए अर्थात् शरीर को छोटा,

बडा या अन्य शरीर रूप करने के लिए आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर निकलते है वह वैक्रियिक-समुद्घात है।

वैनयिक–जिसमे ज्ञान, दर्शन आदि पाच प्रकार की विनय का वर्णन किया गया है वह वैनयिक नाम का अङ्गबाह्य है।

वैनयिक-मिथ्यात्व–सब मतो और सब देवताओ को एक समान मानना वैनयिक-मिथ्यात्व है।

वैमानिक देव–जो विमानो मे उत्पन्न होते है वे वैमानिक देव कहलाते है। वैमानिक देव दो प्रकार के है–कल्पवासी और कल्पातीत।

वैय्यावृत्त्य–1 गुणीजनो के ऊपर दुख आ पडने पर उसके निवारणार्थ जो सेवा-सुश्रुषा की जाती है वह वैय्यावृत्त्य नाम का तप है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु और मनोज्ञ–इन पर विपत्ति आने पर वैय्यावृत्त्य करना चाहिए। रोगादि से व्याकुल साधु को प्रासुक आहार औषध आदि देना तथा उनके अनुकूल वातावरण बना देना यही वैय्यावृत्त्य है। 2 गुणीजनो के ऊपर दुख आ पडने पर निर्दोष-विधि से उनका दुख दूर करना वैय्यावृत्त्य-भावना है। यह सोलह-कारण भावना मे एक भावना है।

व्यञ्जन-निमित्तज्ञान–शरीर मे स्थित तिल या मसा आदि को देखकर दुख-सुखादि को जान लेना व्यञ्जन-निमित्त-ज्ञान है।

व्यञ्जन-पर्याय–जो स्थूल है, शब्द के द्वारा कही जा सकती हे और चिरस्थायी है उसे व्यञ्जन-पर्याय कहते है। जैसे जीव की सिद्ध पर्याय या मनुष्य आदि पर्याय।

व्यञ्जनाचार–अक्षर, पद, वाक्य आदि का शुद्ध पाठ करना व्यञ्जनाचार है।

व्यञ्जनावग्रह–देखिए अवग्रह।

व्यन्तर–भूत, पिशाच आदि जाति के देवो को जैनागम मे व्यन्तर-देव कहा गया है। इनका निवास अधिकतर मध्यलोक मे खडहर आदि सूने स्थानो मे रहता है। मनुष्य व तिर्यचो के शरीर मे प्रवेश करके ये देव उन्हे लाभ-हानि पहुचा सकते हे। अन्य देवो के समान इनका भी वहुत वेभव और परिवार आदि होता है। किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच–ये आठ प्रकार के व्यन्तर-देव हैं।

व्यय–द्रव्य की पूर्व-पर्याय का विनाश होना व्यय कहलाता हे।

व्यवहार-काल–समय, निमेष, घडी, घटा, दिन, रात, मास, वर्ष आदि को व्यवहार-काल कहते है।

व्यवहार-चारित्र–व्रत आदि का पालन करना व्यवहार-चारित्र हे अथवा मन, वचन, काय से समस्त पाप-क्रियाओ का त्याग करना व्यवहार-चारित्र है। व्यवहार-चारित्र, सराग-सयम, शुभोपयोग, अपहृत-सयम, एकदेश परित्याग या अपवाद-मार्ग ये सभी एकार्थवाची हं।

व्यवहार-नय–सग्रह-नय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थो का विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार-नय है। जैसे–सग्रह-नय के विपयभूत द्रव्य में जीव व अजीव द्रव्य ऐसे दो भेद करना। उनमे भी देव, मनुष्य आदि जीव के भेदो का आश्रय लेकर व्यवहार करना। यह दो प्रकार

श

शक्तितस्तप–अपनी शक्ति को न छिपाते हुए मोक्षमार्ग के अनुकूल कायक्लेश आदि तप करना शक्तितस्तप कहलाता है। यह सोलहकारण भावना मे एक भावना है।

शक्तितस्त्याग–अपनी शक्ति के अनुरूप दान देना शक्तितस्त्याग भावना है। यह सोलहकारण भावना मे एक भावना है।

शङ्कित-दोष–'यह आहार आगमानुसार मेरे लेने योग्य है या नहीं', इस प्रकार सन्देह होने पर भी यदि साधु उसे ग्रहण करे तो यह शङ्कित नाम का दोष है।

शब्द-गारव–'मेरे समान शब्दो का स्पष्ट उच्चारण करने वाला कोई नहीं है' ऐसा अपना बडप्पन बताना शब्द-गारव है।

शब्द-नय–व्याकरण के अनुसार सिद्ध कर लिए गए शब्द का यथायोग्य प्रयोग करना शब्द-नय है। अथवा शब्द के माध्यम से अर्थ का बोध कराने वाला शब्द-नय है। शब्द नय मे पर्यायवाची विभिन्न शब्दो का प्रयोग होने पर भी एक ही अर्थ का कथन किया जाता है। जैसे–इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि पर्यायवाची शब्दो का एक ही अर्थ है परन्तु यह एकार्थता समान काल, लिग आदि वाले शब्दों मे है सब पर्यायवाची शब्दो मे नहीं। शब्दनय के कथन मे इसका भी विचार किया जाता है।

शब्द-समय–वर्ण, पद व वाक्य रूप आगम को शब्द-समय या शब्द-आगम कहते हैं। शब्द-समय द्रव्यश्रुत रूप है।

शम–काम क्रोधादि का शमन करना शम कहलाता है।

शय्यापरीषह-जय–जो साधु स्वाध्याय, ध्यान अथवा मार्ग के श्रम से थककर कठोर भूमि पर एक करवट से शयन करता है, उपसर्ग आदि बाधा आने पर विचलित नहीं होता और बाधा को समतापूर्वक सहन करता है उसके यह शय्यापरीषह-जय है।

शरीर–अनन्तानन्त पुद्गलो के समवाय का नाम शरीर है। अथवा जो विशेष नामकर्म के उदय से प्राप्त होकर निरन्तर जीर्ण-शीर्ण होता या गलता रहता है वह शरीर है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण–ये पाच प्रकार के शरीर हैं।

शरीर-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव के औदारिक आदि शरीर की रचना होती है उसे शरीर-नामकर्म कहते है।

शलाका-पुरुष–तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि प्रसिद्ध पुण्यवान पुरुषो को शलाका-पुरुष कहते है। चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र–ये त्रेसठ शलाका पुरुष हे।

शल्य–शल्य का अर्थ पीडा देने वाली वस्तु है। जब शरीर मे काटा आदि चुभ जाता है तो वह पीडादायक होने से शल्य कहलाता है। इसी प्रकार शरीर और मन सम्बन्धी पीडा का कारण होने से कर्मोदय-जनित विकारो को भी शल्य कहते है। शल्य तीन प्रकार की हे–माया-शल्य, मिथ्या-शल्य और निदान-शल्य।

शान्तिनाथ–ये सोलहवे तीर्थकर और पाचवे चक्रवर्ती थे। हस्तिनापुर के कुरुवशी राजा विश्वसेन इनके पिता और गान्धार नगर के राजा

अजितजय की पुत्री ऐरा इनकी माता थीं। इनकी आयु एक लाख वर्ष, ऊचाई चालीस धनुष ओर शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। कुमार काल के पच्चीस हजार वर्ष बीत जाने पर इनका राज्याभिषेक हुआ। एक दिन दर्पण मे अपने दो प्रतिबिंब देखकर इन्हे वेराग्य हो गया। तब चक्रवर्ती का विपुल वेभव छोडकर इन्होंने जिनदीक्षा ले ली। सोलह वर्ष की तपस्या के उपरान्त इन्हे कवलज्ञान प्राप्त हुआ। इनके सघ मे छत्तीस गणधर, वावन हजार मुनि,साठ हजार तीन सौ आर्यिकाए, दो लाख श्रावक व चार लाख श्राविकाए थीं। इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

शास्त्र–जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप धर्म का जिसमे प्रतिपादन किया गया हे उसे आगम या शास्त्र कहते है।

शास्त्र-दान–भव्य जीवो को श्रद्धापूर्वक शास्त्र भेट करना अथवा धर्मोपदेश देना ज्ञानदान या शास्त्रदान कहलाता हे।

शिक्षाव्रत–मुनि धर्म की शिक्षा पाने के लिए जो व्रत श्रावक के द्वारा ग्रहण किये जाते हे उन्हे शिक्षाव्रत कहते है। शिक्षाव्रत चार है–देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैय्यावृत्त्य या अतिथि-संविभाग।

शीत-परीषह-जय–जिसने वस्त्र आदि आवरण का त्याग कर दिया है जो वृक्ष-मूल, नदी-तट या शिलातल आदि पर निवास करते हुए बर्फ गिरने या शीतल हवा चलने पर उसे समतापूर्वक सहन करता है उस साधु के यह शीत-परीषह-जय है।

शीतलनाथ—दसवे तीर्थकर। भद्रपुर नगर के इक्ष्वाकुवशी राजा दृढरथ इनके पिता थे और रानी सुनन्दा माता थीं। इनकी आयु एक लाख वर्ष पूर्व थी, ऊचाई नब्बे धनुष और शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। एक दिन हिमपटल को क्षण भर मे विलीन होते देखकर इन्हे वैराग्य हो गया और इन्होने जिनदीक्षा ले ली। तीन वर्ष तक कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इनके संघ मे इक्यासी गणधर, एक लाख मुनि, तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाए, दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाए थीं। इन्होने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

शीलव्रतेष्वनतिचार—अहिसा आदि व्रतो की रक्षा के लिए क्रोधादि कषाय का त्याग करना शील है। व्रत और शील दोनो का निर्दोष पालन करना शीलव्रतेष्वनतिचार है। यह सोलह-कारण-भावना मे एक भावना है।

शुक्लध्यान—रागादि विकल्प नष्ट हो जाने पर आत्मा मे जो निर्विकल्प-ध्यान की प्राप्ति होती है उसे शुक्लध्यान कहते है। जैसे मैल हट जाने से वस्त्र स्वच्छ होकर शुक्ल कहलाता है। उसी प्रकार कषाय रूपी मैल के नष्ट होने पर आत्मा के शुचि गुण के सम्बन्ध से इस ध्यान को भी शुक्लध्यान कहते है। शुक्ल-ध्यान के चार सोपान या भेद है—पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्व-वितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति। प्रथम दो शुक्ल ध्यान के स्वामी चौदह पूर्व के ज्ञाता मुनि होते है। शेष दो शुक्लध्यान केवली भगवान को होते है।

शुक्ल-लेश्या—पक्षपात न करना, आगामी-काल मे भोग की आकाक्षा

न करना, समस्त प्राणियो मे समता-भाव रखना तथा रागद्वेष व मोह नहीं करना, ये शुक्ल-लेश्या के लक्षण हैं।

शुद्धोपयोग–रागादि विकल्पो से रहित आत्मा की निश्चल दशा ही शुद्धोपयोग है। निश्चय रत्नत्रय से युक्त वीतरागी श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

शुभ तैजस–देखिए प्रशस्त नि सरणात्मक तैजस।

शुभ-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर रमणीय होता है वह शुभ-नामकर्म है। इससे विपरीत अशुभ-नामकर्म है।

शुभोपयोग–दया, दान, पूजा, व्रत, शील आदि रूप शुभ राग और चित्त-प्रसाद रूप परिणाम होना शुभोपयोग है।

शैक्ष–शिक्षाशील साधु को शैक्ष कहते है।

शोक–उपकार करने वाले से सबध छूट जाने पर जो चित्त मे विकलता होती है उसे शोक कहते है।

शौच–लोभ का त्याग करना शौच-धर्म है। जो मुनि इच्छाओ को रोककर और वैराग्य रूप विचारो से युक्त होकर आचरण करता हे उसके शौच-धर्म होता है।

शौचोपकरण–मुनिजनो के देह-शुद्धि मे सहायक कमण्डलु को शौचोपकरण कहते हैं।

श्रमण–देखिए साधु।

श्रावक–सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा रखने वाले सद्गृहस्थ को

श्रावक कहते है। श्रावक की तीन विशेषताए होती है—वह श्रद्धावान, विवेकवान और सदाचारी होता है। श्रावक तीन प्रकार के है—पाक्षिक-श्रावक, नैष्ठिक-श्रावक और साधक-श्रावक।

श्रावक-धर्म—1. दान, पूजा, शील और उपवास यह श्रावक-धर्म है। 2 पूर्वजो की कीर्ति की रक्षा करना, देव-पूजा, अतिथि-सत्कार, वन्धु-बान्धवो की सहायता और आत्मोन्नति मे सदा तत्पर रहना—ये श्रावक-धर्म है।

श्री—'श्री' का अर्थ लक्ष्मी है। अर्हन्त भगवान के अनन्त चतुष्टय रूप अतरग-लक्ष्मी और समवसरण आदि बाह्य-लक्ष्मी को 'श्री' कहते है।

श्रुतकेवली—द्वादशाग रूप समस्त श्रुतज्ञान को धारण करने वाले महर्षि को श्रुत-केवली कहते है। श्रुतकेवली सर्व आगम के ज्ञाता होते है अर्थात् द्रव्यश्रुत व भावश्रुत दोनो से सम्पन्न होते है।

श्रुतज्ञान—1 मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के अवलम्बन से तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थ का जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते है। 2 जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए वचनो के अनुरूप गणधर आदि के द्वारा जो ग्रन्थ रचना की जाती है उसे श्रुत या श्रुतज्ञान कहते है। श्रुतज्ञान दो प्रकार का है—अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्ग-वाह्य। आचाराङ्ग आदि बारह अङ्ग और चौदह पूर्व अङ्ग-प्रविष्ट के अतर्गत आते है तथा सामायिक, कृतिकर्म आदि अङ्ग-बाह्य नामक श्रुत है। सारा श्रुतज्ञान दो रूपो मे मिलता है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। जो अक्षरात्मक द्वादशाग है वह द्रव्यश्रुत है तथा इसे सुनने से जो स्वानुभव या स्वसवेदन ज्ञान उत्पन्न होता है वह भावश्रुत कहलाता है।

श्रुतावर्णवाद–"मदिरा, मास, मधु, रात्रिभोजन आदि पापाचरण शास्त्र-सम्मत है"–ऐसा कहना श्रुत का अवर्णवाद है।

श्रेयासनाथ–ग्यारहवे तीर्थकर। ये सिहपुर नगर के इक्ष्वाकुवशी राजा विष्णु और रानी नन्दा के पुत्र थे। इनकी आयु चौरासी लाख वर्ष की थी। ऊचाई अस्सी धनुष थी। शरीर स्वर्ण के समान आभा वाला था। इन्होने बयालीस लाख वर्ष तक राज्य किया। एक दिन वसन्त ऋतु के परिवर्तन को देखकर इन्हे वैराग्य हो गया और इन्होने जिनदीक्षा ले ली। दो वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके सघ मे सतहत्तर गणधर, चौरासी हजार मुनि, एक लाख बीस हजार आर्यिकाए, दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाए थीं। इन्होने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

श्रोता–शास्त्र के अर्थ को ठीक-ठीक ग्रहण और धारण करने वाले विनयवान व सदाचारी पुरुष श्रेष्ठ श्रोता कहलाते है। श्रोता मुख्यत तीन प्रकार के है–जो केवल सारभूत वस्तु को ग्रहण करते हैं वे हस के समान उत्तम-श्रोता है। जो शास्त्र सुनते समय गीली मिट्टी के समान कोमल होते है बाद मे कठोर परिणामी हो जाते हे वे मध्यम श्रोता हे। जो गुणो को छोडकर सिर्फ अवगुण ग्रहण कर लेते हे वे जौक के समान अधम-श्रोता हैं।

श्रोत्र-इन्द्रिय–जिसके द्वारा प्राणी सुनता हे उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते हैं।

स

सकल-दत्ति–अपने वश की प्रतिष्ठा के लिए अपने किसी योग्य पुत्र को कुल-पद्धति ओर धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पित करना सकल-दत्ति या अन्वयदत्ति कहलाता है।

सचित्त–आत्मा के चैतन्य विशेष परिणाम को चित्त कहते है। जो चित्त सहित है वह सचित्त कहलाता हे। सूखने पर या अग्नि पर पकाये जाने पर वनस्पति आदि पदार्थ अचित्त या प्रासुक हो जाते है।

सचित्त-त्याग-प्रतिमा–प्रोषधोपवास नामक चौथी प्रतिमा धारण करने के उपरान्त कच्चे जल, फल-फूल आदि का त्याग करके प्रासुक जल, फल-फूल आदि ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना श्रावक की पाचवी सचित्त-त्याग-प्रतिमा है।

सत्–1 सत् शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो मे होता है। यहा सत् का अर्थ सत्त्व हे अर्थात् सत् शब्द अस्तित्व का वाचक है। गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओ मे सम्यग्दर्शन आदि 'कहा है, कहा नहीं है' यह सूचित करने के लिए सत् का ग्रहण किया जाता है। 2 जो उत्पाद, व्यय और ध्रोव्य से युक्त है वह सत् हे।

सत्कार-पुरस्कार-परीषह-जय–सत्कार का अर्थ पूजा-प्रशसा है तथा क्रिया के आरभ आदि मे आगे करना या निमत्रण देना पुरस्कार है। तपस्वी, ज्ञानवान ओर चिरकाल से दीक्षित होते हुए भी आदर सत्कार नहीं मिलने पर जो साधु मन को कलुषित नहीं होने देता और समतापूर्वक अनादर को सहन करता है उसके सत्कार-पुरस्कार-

परीषह-जय होता हे।

सत्य—राग, द्वेष या मोह से प्रेरित सब प्रकार के झूठ वचनों का त्याग करना और आगम के अनुरूप बोलना सत्य महाव्रत हे। 2 स्थूल झूठ का त्याग करना और जीवों का घात करने वाला सत्य-वचन भी नहीं बोलना सत्य-अणुव्रत है।

सत्यधर्म—जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुचाने वाले वचनो को छोडकर अपने और दूसरे का हित करने वाले वचन कहता है उसके सत्यधर्म होता हे। अथवा सज्जन पुरुषो के साथ श्रेष्ठ वचन बोलना सत्य-धर्म है।

सत्य-प्रवाद—जिसमे वचन-गुप्ति, वचन-सस्कार के कारण, वचन-प्रयोग, बारह प्रकार की भाषाए, दस प्रकार के सत्य, वक्ता के प्रकार आदि का विस्तार से विवेचन हे वह सत्य-प्रवाद पूर्व नाम का छठवा पूर्व हे।

सत्य-मन-वचन—यथार्थ या सत्य को जानने या कहने मे जीव के मन और वचन की प्रयत्न रूप प्रवृत्ति को सत्य मन व वचन योग कहते हे। जैसे—यथार्थ जल जिसमे स्नान किया जा सकता है जिसे पी सकते है। उसे ही जल जानना या जल कहना।

सत्व—1 सत्व का अर्थ अस्तित्व हे। 2 सत्व यह जीव का पर्यायवाची नाम है। 3 जो पूर्व संचित कर्म हे उनका आत्मा मे अवस्थित रहना सत्व कहलाता है। इसे सत्ता भी कहते है।

सद्भूत-व्यवहार-नय—गुण और गुणी मे भेद करके कथन करने वाला सद्भूत-व्यवहार-नय है। जैसे—आत्मा किसी को दिखाई नहीं देती किन्तु इसकी जानने देखने की शक्तिया अर्थात् गुण सबके अनुभव मे आते हैं। अत गुणो का अलग से नाम लेकर आत्मा के स्वरूप

और अस्तित्व का बोध कराना सभव होता है। यही इस नय का प्रयोजन है। यह दो प्रकार का है–अनुपचरित सद्भूत और उपचरित-सद्भूत।

सन्निधिकरण–सम्मुख या निकट होना सन्निधिकरण है। पूजा करते समय पूज्य पुरुष को अपने हृदय मे बिठाना सन्निधिकरण कहलाता है।

सप्तभगी–प्रश्न के अनुसार एक ही वस्तु मे जो बिना किसी विरोध के सत्, असत् आदि धर्मों का कथन किया जाता है उसे सप्तभगी कहते है। स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति-अवक्तव्य, स्यात् नास्ति-अवक्तव्य और स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य–इस प्रकार वस्तु को जानने के लिए सात प्रकार के प्रश्न उठते है सो उनके उत्तर भी सात है। यही सप्तभगी हे। जैसे 'कथचित् घडा है' अर्थात् किसी अपेक्षा घडा है, इस प्रकार घडे के अस्तित्व सम्वन्धी सात प्रश्न और सात ही उत्तर सभव हैं। मुख्य और गौण की अपेक्षा से सभी को जानना सार्थक है।

सप्रतिष्ठित–देखिए प्रत्येक वनस्पति।

समचतुरस्र-सस्थान–जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सुडौल होता है उसे समचतुरस्र-शरीर-सस्थान-नामकर्म कहते हे।

समता–शत्रु-मित्र में, सुख-दुख मे, लाभ-अलाभ ओर जय-पराजय में, हर्ष-विषाद नहीं करना या साम्य भाव रखना समता है।

समदत्ति–जो आचार-विचार आदि मे अपने समान अन्य उत्तम गृहस्थ है उसे विनयपूर्वक अपनी कन्या और धन-धान्य आदि देना समदत्ति हे।

समन्तानुपात-क्रिया—स्त्री-पुरुप ओर पशुओ के आने-जाने या उठने-वेठने क स्थान मे मल, मूत्र आदि करना समन्तानुपात-क्रिया है।

समभिरूढ-नय—जो शब्द के अनेक अर्थों को छोडकर प्रधानता से एक ही रूढ अर्थ को ग्रहण करता हे उसे समभिरूढ-नय कहते हे। जेसे—'गो' शब्द के अनेक अर्थ हे पर यह शब्द एक पशु विशेष के अर्थ मे रूढ या प्रसिद्ध है। अत यह नय उसे ही ग्रहण करता है। इस नय के अनुसार जो शब्द जिस अर्थ या पदार्थ के लिए प्रसिद्ध हो गया है वह शब्द हर अवस्था मे उसी अर्थ या पदार्थ का वाचक होगा। जेसे—आठ उपवास करके मोक्ष जाने वाले मुनि को सदा अप्टोपवासी कहना।

समय—1 मद गति से एक परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने मे जितना काल लगता हे, उसे समय कहते हे। यह काल की इकाई हे। 2 समय का अर्थ जीव या आत्मा है। ३ समय का अर्थ आगम या मत भी है। स्व-समय और पर-समय ऐसे दो भेद समय के है। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा को पर-समय और सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा को स्व-समय कहते हैं।

समवसरण—तीर्थकर की धर्मसभा को समवसरण कहते हैं। जहा समस्त स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी और देवी-वेवता समान भाव से भगवान का उपदेश सुनते हे अथवा जहा सभी भव्य जीव तीर्थंकर की दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हें वह समवसरण हे। सोधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुवेर के द्वारा तीर्थकरो के योग्य समवसरण की रचना-की जाती है।

समवायाङ्ग—जिसमे पदार्थो की समानता के आधार पर समवाय का विचार किया गया है वह समवायाङ्ग है। जैसे धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, लोकाकाश और एक जीव के समान रूप से असख्यात-प्रदेश होने के कारण समानता के आधार पर इन सबका द्रव्य रूप से समवाय कहा जाता है। इसी प्रकार यथायोग्य क्षेत्र, काल व भाव रूप समवाय भी जानना चाहिए।

समाचार—साधुओ के द्वारा परस्पर जो विनय आदि व्यवहार किया जाता है उसे समाचार या समाचारी कहते है। अथवा सभी साधुओ का जो एक समान अहिसा आदि रूप आचरण है उसे समाचार कहते है।

समादान-क्रिया—सयमी का असयम के अभिमुख होना समादान-क्रिया है।

समाधि—वीतराग-भाव से आत्मा का ध्यान करना समाधि है। अथवा समस्त विकल्पो का नष्ट हो जाना परम समाधि है।

समाधिमरण—देखिए सल्लेखना।

समारम्भ—कार्य के योग्य साधनो को इकट्ठा करना समारम्भ है।

समिति—प्राणियो को पीडा न पहुचे ऐसा विचार कर दया-भाव से सावधानीपूर्वक सभी प्रवृत्ति करना समिति कहलाती है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन—ये पाच समितिया है।

समुद्घात—वेदना आदि के निमित्त से मूल शरीर को नहीं छोडते हुए जो जीव के कुछ आत्म-प्रदेश शरीर से वाहर निकलते हे उसे समुद्घात कहते है। समुद्घात सात प्रकार का है—केवली-समुद्घात, वेदना-

समुद्घात, कषाय-समुद्घात, तैजस-समुद्घात, मारणान्तिक-समुद्घात, विक्रिया-समुद्घात ओर आहारक-समुद्घात।

सम्भवनाथ—तीसरे तीर्थकर। श्रावस्ती नगरी के राजा दृढराज इनके पिता थे ओर रानी सुषेणा मा थी। इनकी आयु साठ लाख वर्ष पूर्व थी। शरीर चार सो धनुष ऊचा था। चिरकाल तक राज्य करने के उपरान्त एक दिन मेघो का विलय देखकर ससार से विरक्त हो गए ओर पुत्र को राज्य देकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। चौदह वर्ष तक तपस्या के फलस्वरूप इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके सघ मे चारुदत्त आदि एक सो पाच गणधर, दो लाख मुनि, तीन लाख आर्यिकाए, तीन लाख श्रावक ओर पाच लाख श्राविकाए थीं। इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

सम्भावना-सत्य—जेसी इच्छा रखे वेसा कर सके यह सम्भावना-सत्य कहलाता हे। जेसे—इन्द्र इच्छा करे तो जम्बूद्वीप को पलट सकता हे यह सम्भावना सत्य हे।

सम्मति-सत्य—वहुत लोगो के द्वारा माना गया जो नाम आदि है वह सम्मति-सत्य कहलाता हे। जेसे—राजा की स्त्री को रानी या देवी कहना।

सम्मूर्च्छन-जन्म—जा स्वयमेव वातावरण मे सव ओर से शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओ को ग्रहण करके जीवो का जन्म होता है वह सम्मूर्च्छन जन्म हे। एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक सभी तिर्यचो का ओर किन्ही सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यचा व मनुष्यो का भी सम्मूर्च्छन जन्म होता हे।

सम्यक्-चारित्र—ससार की कारणभूत बाह्य और अतरग क्रियाओ से निवृत्त होना सम्यक्-चारित्र है। बाह्य और अभ्यतर निवृत्ति की अपेक्षा अथवा निश्चय व व्यवहार की अपेक्षा चारित्र दो प्रकार का है। कर्मो के उपशम आदि की अपेक्षा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से चारित्र तीन प्रकार का है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय ओर यथाख्यात-चारित्र के भेद से चारित्र पाच प्रकार का है। सम्यक्त्वाचरण-चारित्र और स्वरूपाचरण-चारित्र ऐसे दो भेद भी चारित्र के किए गए है।

सम्यक्त्व-क्रिया—चैत्य, गुरु और शास्त्र की पूजा आदि रूप सम्यक्त्व को बढाने वाली सम्यक्त्व-क्रिया है।

सम्यक्त्वाचरण-चारित्र—जिनेन्द्र भगवान के प्रति सच्ची श्रद्धा होने पर जो सहज सदाचार रूप क्रिया होती हे उसे सम्यक्त्वाचरण-चारित्र कहते हे।

सम्यग्-मिथ्यात्व—देखिए मिश्रगुणस्थान।

सम्यग्-एकान्त—अनेक धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का प्रधानता से कथन करना और शेष धर्मो का निषेध नहीं करना सम्यग्-एकान्त है।

सम्यग्ज्ञान—सम्यग्दर्शन के साथ होने वाले यथार्थ या समीचीन ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन - पर्ययज्ञान ओर केवलज्ञान—ये सम्यग्ज्ञान के पाच भेद है।

सम्यग्दर्शन—सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। अथवा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए सात तत्त्वो के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते है। अथवा आत्मरुचि होना सम्यग्दर्शन

है। अथवा 'स्व-पर' का भेद-विज्ञान होना सम्यग्दर्शन है। उत्पत्ति की अपेक्षा निसर्गज और अधिगमज ऐसे सम्यग्दर्शन के दो भेद है। नय-विभाग की अपेक्षा निश्चय और व्यवहार ऐसे सम्यग्दर्शन के दो भेद है। मिथ्यात्व कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के तीन भेद है।

सरस्वती–जिनवाणी को सरस्वती कहते है।

सराग-चारित्र–देखिए व्यवहार-चारित्र।

सराग-सम्यक्त्व–देखिए व्यवहार-सम्यग्दर्शन।

सर्वज्ञ–सकल चराचर जगत को प्रत्यक्ष रूप से जानने वाले अर्हंत व सिद्ध भगवान सर्वज्ञ कहलाते है।

सर्वार्थसिद्धि–वैमानिक देवो के पाच अनुत्तर विमानो मे से एक विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि है। यहा रहने वाले सभी देव अहमिंद्र कहलाते है और एक भवावतारी होते है अर्थात् मरणापरान्त एक मनुष्य भव पाकर मुक्त हो जाते है।

सर्वौषधि-ऋद्धि–जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के शरीर के सब अवयव औषधि रूप हो जाते है वह सर्वौषधि-ऋद्धि है।

सल्लेखना–जीवन का अंत निकट जानकर समतापूर्वक देह का परित्याग करना सल्लेखना कहलाती है। सल्लेखना का शब्दिक अर्थ है शरीर और कषाय को क्रमश क्षीण करना। इसे समाधि-मरण भी कहते है। सल्लेखना तीन प्रकार से होती है–भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और पायोपगमन।

सविपाक-निर्जरा–यथाकाल अर्थात् क्रम से परिपाक काल आने पर शुभाशुभ कर्म की जो फल देकर निवृत्ति होती है वह सविपाक-निर्जरा है।

संकल्प–स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति आदि चेतन-अचेतन पदार्थों मे 'ये मेरे हैं' ऐसी कल्पना करना सकल्प कहलाता है।

संकल्पी-हिंसा–'मै इस जीव को मारू'–इस प्रकार के विचार से जो हिसा होती है उसे संकल्पी-हिसा कहते है।

संक्रमण–जो कर्म-प्रकृति पहले जीव के बधी थी उसका अन्य प्रकृति रूप परिणमन हो जाना सक्रमण कहलाता है। जीव के परिणामो के द्वारा पहले बाधी हुई कर्म प्रकृति वदलकर अन्य प्रकृति रूप हो जाती है, यही सक्रमण कहलाता है। सक्रमण पाच प्रकार से होता है–उद्वेलन-सक्रमण, विध्यात-सक्रमण, अध प्रवृत्त सक्रमण, गुणसक्रमण और सर्वसक्रमण।

संक्लेश–असाता वेदनीय कर्म के वध योग्य परिणाम को सक्लेश कहते हे। या तीव्र कषाय रूप परिणाम का नाम सक्लेश है।

संक्षेप-सम्यग्दर्शन–जिनागम मे कहे गये जीवादि पदार्थो को सक्षेप से सुनकर या जानकर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे सक्षेप-सम्यग्दर्शन कहते है।

संख्या–सत् प्ररूपणा मे जो पदार्थो का अस्तित्व कहा गया है उनके प्रमाण का वर्णन करने वाली सख्या हे। सख्या से आशय भेदो की गणना से है।

यथाख्यात-चारित्र का घात करती है वह सज्वलन नामक कषाय है। सज्वलन कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप मे रहती है।

सदंश—आहार के समय यदि साधु को कुत्ता आदि काट ले तो यह सदश नाम का अन्तराय है।

सभिन्न-श्रोतृत्व-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु श्रोत्र-इन्द्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर दशो दिशाओ मे सख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र मे स्थित मनुष्य और तिर्यंचो के बहुत प्रकार के शब्दो को सुनकर उनका एक साथ प्रत्युत्तर देने मे समर्थ होता है उसे संभिन्न-श्रोतृत्व-ऋद्धि कहते हैं।

सयत—सम्यग्दर्शन और ज्ञानपूर्वक जो हिसा आदि पाच पापो से पूर्णत विरक्त है, ऐसे महाव्रती साधु को सयत करते है। शुभक्रियाओ से युक्त होने पर वह प्रमत्त-सयत और आत्मलीन होने पर अप्रमत्त-सयत कहलाते है।

सयतासयत—हिसा आदि पाच पापो का स्थूल रूप से त्याग करने वाले अणुव्रती श्रावक को सयतासयत कहते है। अथवा जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान मे श्रद्धा रखता है तथा त्रस जीवो की हिसा से विरत है लेकिन स्थावर जीवो के घात से विरत नहीं है उसे सयतासयत कहते हैं। इसका दूसरा नाम विरताविरत या देशव्रती भी है।

संयम-धर्म—व्रत व समिति का पालन करना, मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना तथा इन्द्रियो को वश मे रखना यह सयम-धर्म है। यह दो प्रकार का है—प्राणि-सयम और इन्द्रिय-सयम। सव जीवो की रक्षा करना प्राणि-सयम है तथा पाचो इन्द्रिय और मन

को नियंत्रित करना इन्द्रिय-सयम है।

सयमोपकरण–साधु के योग्य सयम का पालन करने मे सहायक पिच्छिका को सयमोपकरण कहते हे।

सयोजना-दोष–यदि साधु ठडा भोजन गर्म जल से मिला कर ले ओर ठडा जल गर्म भोजन से मिलाकर ग्रहण करे तो यह सयोजना नाम का दोप हे।

सरम्भ–हिसा आदि कार्य मे प्रयत्नशील होना सरम्भ हे।

सवर–आस्रव का निरोध करना सवर कहलाता हे। अथवा जिससे कर्म रुके वह कर्मो का रुकना सवर हे। यह दो प्रकार का हे–भाव सवर ओर द्रव्य सवर। आत्मा के जो सम्यग्दर्शन व व्रत सयम आदि रूप परिणाम कर्म के आगमन को रोकने मे कारण है उसे भाव-सवर कहते है तथा कर्मों का रुकना द्रव्य-सवर हे।

सवरानुप्रेक्षा–जिस प्रकार नाव के छिद्र वद रहने पर यात्री सकुशल अपने गतव्य स्थान तक पहुच जाते हे, उसी प्रकार कर्मों के आने के द्वार को रोक देने पर जीव अपने मोक्ष रूपी लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हे, इस प्रकार सवर के गुणो का बार-बार चिन्तन करना सवरानुप्रेक्षा है।

संवेग–दुखमय ससार के आवागमन से सदा डरते रहना सवेग कहलाता हे। अथवा धर्म व धर्म के फल मे सदा उत्साह रखना सवेग हे। अथवा पच-परमेष्ठी के प्रति प्रीति और धार्मिक जनो मे अनुराग रखना सवेग हे।

संवेगनी-कथा--पुण्य के फल की चर्चा करना सवेगनी-कथा है। यह कथा धर्म और धर्म के फल मे अनुराग उत्पन्न कराने वाली है।

संवौषट्--जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते समय आह्वानन के लिए सवौषट् नामक बीजाक्षर वोला जाता है। यह आमत्रण-वाचक बीजाक्षर है।

संव्यवहरण-दोष--साधु को आहार देने के लिए वर्तन आदि को शीघ्रता से बिना देखे उठाना सव्यवहरण-दोष है।

संशय--वस्तु के विषय मे विरुद्ध अनेक धर्मो मे से किसी एक का निश्चय नही कर पाना और सदेह मे पड जाना सशय कहलाता है। जैसे--'यह सीप है या चादी है'--ऐसा संदेह होना।

सशय-मिथ्यात्व--'सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो मिलकर मोक्षमार्ग है या नहीं'--इस प्रकार किसी एक पक्ष का निश्चय नहीं होना सशय- मिथ्यात्व है। अथवा देव और धर्म के स्वरूप मे 'यह ठीक है या नहीं' ऐसा निर्णय नहीं होना सशय-मिथ्यात्व है।

संश्लेष-सम्बन्ध--जो स्निग्ध वस्तुओ का या स्निग्ध और रूक्ष वस्तुओ का परस्पर बध होता है वह सश्लेष सम्बन्ध है। जैसे--लाख व काष्ठ आदि का अथवा दूध और जल का परस्पर सश्लेष-सम्वन्ध है। इसी प्रकार अनादि काल से जीव और कर्म का परस्पर सश्लेष-सम्बन्ध है।

संसक्त--जो साधु मत्र, वैद्यक और ज्योतिष से अपनी जीविका करता हे और राजा आदि की सेवा करता है उसे ससक्त कहते है।

सात्त्विक-दान–जिस दान से अतिथि का हित हो, जिसमे सुपात्र का निरीक्षण स्वय दाता क द्वारा किया गया हो ओर दाता मे श्रद्धा आदि समस्त गुण हा वह सात्त्विक-दान हे।

सादि-मिथ्यादृष्टी–सम्यग्दर्शन का प्राप्त करने के उपरान्त जो जीव गिरकर पुन मिथ्यादृष्टि हो जाता हे उसे सादि-मिथ्यादृष्टी कहते हे।

साधक–जा श्रावक जीवन के अत मे शरीर, आहार आदि से ममत्व छोडकर आत्म-शुद्धि के लिए समाधिमरण की साधना करता हे उसे साधक कहते हे।

साधन–1 जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति हे उसे साधन कहते हे। आशय यह हे कि साध्य के होने पर ही होना ओर साध्य के अभाव मे नही होना–ऐसी साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति हे वह साधन हे। 2 जिस निमित्त से वस्तु उत्पन्न होती हे वह साधन हे। इसे कारण भी कहते है।

साधारण-वनस्पति–जो एक शरीर बहुत जीवो का होता हे वह साधारण- शरीर कहलाता हे। ऐसा साधारण-शरीर जिन जीवो का है वे साधारण-जीव कहलाते हे। साधारण शरीर मे रहने वाले सभी जीवो का जन्म, मरण, श्वासोच्छवास ओर आहार आदि एक साथ होता हे। जिस वनस्पति के आश्रित साधारण-जीव होते है वह साधारण-वनस्पति कहलाती हे। प्रतिष्ठित-प्रत्येक-वनस्पति भी साधारण जीवो के द्वारा आश्रित होने के कारण उपचार से साधारण होती हे। किसी वृक्ष की जड साधारण होती हे, किसी का स्कन्ध, किसी की शाखाए, किसी के पत्ते, किसी के फूल, किसी के पर्व का

दूध और किसी के फल साधारण होते है। इस तरह किसी-किसी वृक्ष के मूल, पत्ते, स्कन्ध, फल, फूल आदि अलग-अलग साधारण होते है और किसी के मिले हुए पूर्ण रूप से साधारण होते है। मूली, अदरक, आलू, अरवी आदि सब मूल अर्थात् जडे साधारण है। गन्ने के पर्व साधारण हे। वृक्षों पर लगी कोपले सब साधारण हैं। पाच उदुम्बर-फल और ग्वॉरफाठा की शाखाए साधारण हे। चना, मेंथी, वथुआ, पालक आदि कोई-कोई साधारण है।

साधारण-शरीर—जिस कर्म के उदय से बहुत जीवो के उपभोग के लिए एक ही साधारण शरीर होता हे उसे साधारण-शरीर-नामकर्म कहते है।

साधु—निर्ग्रंथ मुनि को साधु कहते है। जो घर-गृहस्थी सम्बन्धी समस्त आरम्भ परिग्रह ओर विषय-वासना का त्याग करके रत्नत्रय की आराधना करते हुए सयमित जीवन जीते हे वे साधु है। साधु के अट्ठाइस मूलगुण होते है—पाच महाव्रत, पाच समिति, पाच इन्द्रिय-विजय, छह आवश्यक, अस्नान, अदन्तधोवन, भूमि-शयन, केशलुचन, स्थिति-भोजन, एक-भक्त और अचेलकत्व।

साधु-समाधि—व्रत व शील से सम्पन्न साधु के तप मे किसी कारण से विघ्न आने पर उसे दूर करना साधु-समाधि कहलाती है। यह सोलह कारण भावना मे एक भावना हे।

सामायिक—समता-भाव रखना सामायिक हे। अथवा सर्व सावद्य योग से निवृत्त होना सामायिक हे। श्रावक ओर साधु दोनो को सामायिक करना आवश्यक हे। श्रावक प्रतिदिन नियतकाल पर्यन्त व्रत या प्रतिमा के रूप मे सामायिक का अभ्यास करता हे। साधु का जीवन

ही समतामय हे फिर भी वह सदा समता रूप सामायिक-चारित्र का पालन करता हुआ प्रतिदिन सध्याकालो मे सामायिक नामक आवश्यक को विधिवत सम्पन्न करता है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से सामायिक छह प्रकार की हे। सामायिक प्रतिदिन सुबह, दोपहर और शाम इन तीनो सध्याकालो मे कम से कम दो घडी अर्थात् अडतालीस मिनिट और अधिकतम छह घडी तक की जाती हे। सामायिक का प्रारभ और समापन करते समय प्रत्येक दिशा मे तीन-तीन आवर्त्त, एक-एक प्रणाम व एक-एक कायोत्सर्ग करना चाहिए तथा पूर्व या उत्तरमुख करके खडे होकर या बैठकर प्रसन्नतापूर्वक सामायिक करना चाहिए।

सामायिक-चारित्र–सर्व सावद्य योग से निवृत्त होना और सदा समता-भाव रखना सामायिक-चारित्र है।

सामायिक-प्रतिमा–व्रत-प्रतिमा नामक दूसरी प्रतिमा धारण करने के उपरान्त विधिपूर्वक तीनो सध्याओ मे सामायिक करने की प्रतिज्ञा लेना यह श्रावक की तीसरी सामायिक-प्रतिमा कहलाती है।

सामायिक-व्रत–प्रतिदिन सध्याकालो मे कम से कम दो घडी पर्यन्त समस्त पाप कार्यो का त्याग करके पचपरमेष्ठी का चिन्तन करने की प्रतिज्ञा लेना सामायिक नाम का शिक्षाव्रत है।

सामायिक-श्रुत–समता-भाव के विधान का वर्णन करने वाला सामायिक नाम का अङ्गबाह्य-श्रुत है।

साम्परायिक-आस्रव–सम्पराय का अर्थ कषाय हे। कषाय सहित होने वाले आस्रव को साम्परायिक-आस्रव कहते है।

सावद्य—मन, वचन व काय के द्वारा होनेवाली हिंसाजनक क्रिया को सावद्य कहते है। कृषि, व्यापार आदि छह सावद्य कर्म माने गए है। पूजा, अभिषेक आदि यद्यपि सावद्य है परन्तु धर्मध्यान मे सहकारी और पुण्य रूप होने से श्रावक के लिए ग्राह्य है।

सासादन-सम्यक्त्व—उपशम-सम्यक्त्व से पतित होकर जीव जब तक मिथ्यात्व मे नहीं आता तब तक उसे सासादन-सम्यग्दृष्टी जानना चाहिए। यह सासादन-सम्यक्त्व नामक दूसरा गुणस्थान है।

साव्यवहारिक-प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते है। लोक-व्यवहार मे इसे प्रत्यक्ष कहा है परन्तु यह परोक्ष-ज्ञान है।

सिद्ध—समस्त आठ कर्मो के बन्धन को जिन्होंने नष्ट कर दिया है ऐसे नित्य निरजन परमात्मा ही सिद्ध कहलाते है।

सिद्धि—सिद्धि का अर्थ प्राप्ति या उपलब्धि है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति होना सिद्धि है। अथवा जो जीवो के हित की साधक होती है उसे सिद्धि कहते है।

सुख—सुख आह्लाद रूप होता है। वह दो प्रकार का है—इन्द्रिय-सुख और अतीन्द्रिय-सुख। इन्द्रिय-विषयो मे प्रीति का अनुभव होना इन्द्रिय-सुख है। आत्म-स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न और रागादि विकल्पो से रहित निराकुलता रूप अतीन्द्रिय सुख है।

सुन्दरी—तीर्थंकर ऋषभदेव की पुत्री थी। अपने पिता से इन्होंने अंकविद्या सीखी। अल्प-वय मे ही विरक्त होकर भगवान ऋषभदेव

से दीक्षा लेकर आर्यिका का पद पाया।

सुपार्श्वनाथ–सातवें तीर्थंकर। वाराणसी नगरी के राजा सुप्रतिष्ठ की रानी पृथिवीषेणा के यहां इनका जन्म हुआ। इनकी आयु बीस लाख वर्ष पूर्व की थी। शरीर दो सौ धनुष ऊंचा था। शरीर का वर्ण प्रियंगु पुष्प के समान था। एक दिन अचानक इन्हें वैराग्य हुआ और जिनदीक्षा ले ली। नौ वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हें केवलज्ञान हुआ। इनके संघ में पचानवे गणधर, तीन लाख मुनि, तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएं, तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्राविकाएं थीं। इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

सुभग-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से अन्यजन प्रीतिकर अवस्था प्राप्त होती है वह सुभग-नामकर्म है। अथवा स्त्री और पुरुषों के सौभाग्य को उत्पन्न करनेवाला सुभग-नामकर्म है।

सुमतिनाथ–पांचवें तीर्थंकर। आयोध्या नगरी के राजा मेघरथ और रानी मंगला के यहां जन्म लिया। इनकी आयु चालीस लाख वर्ष पूर्व थी। शरीर तीन सौ धनुष ऊंचा और स्वर्ण के समान कान्तिवाला था। राज्य करते हुए एक दिन अचानक इन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ और जिनदीक्षा ले ली। बीस वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हें केवलज्ञान हुआ। इनके संघ में एक सौ सोलह गणधर, तीन लाख बीस हजार मुनि, तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएं, तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्राविकाएं थीं। इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

सुमेरु—यह मध्यलोक का प्रसिद्ध पर्वत हे। जो विदेह क्षेत्र के मध्यभाग मे स्थित हे। यह पर्वत तीर्थकरो के जन्माभिषेक की पीठिका के रूप मे प्रसिद्ध हे क्योंकि इसके शिखर पर पाण्डुक वन मे, स्थित पाण्डुक शिला आदि चार शिलाओं पर भरत, ऐरावत तथा विदेह क्षेत्र सम्वन्धी सभी तीर्थकरा का जन्माभिषेक होता हे। इसके मेरु, महामेरु, मन्दर ओर सुदर्शन आदि अनेक नाम हे। जम्बूद्वीप मे एक, धातकी खण्ड मे दो ओर पुष्करार्ध द्वीप मे दो ऐसे कुल पाच मेरु है। प्रत्येक मेरु पर सोलह जिनालय होने से पचमेरु सम्वन्धी कुल अस्सी जिनालय है।

सुषमा—अवसर्पिणी के द्वितीय-काल ओर उत्सर्पिणी के पचम-काल का नाम सुषमा हे। अवसर्पिणी के इस द्वितीय काल मे मनुष्यो की ऊचाई दो कोस ओर आयु दो पल्य होती हे। मनुष्य दा दिन छोडकर तीसरे दिन वहेडा के वरावर आहार ग्रहण करते है। इस काल मे उत्पन्न वालक-वालिका का युगल शय्या पर सोते हुए पाच दिन व्यतीत करता हे फिर शेष सभी योग्यताए क्रमश पाच-पाच दिन व्यतीत होने पर प्राप्त होती हे ओर पेतीस दिन मे पूर्ण योवन और कला से सम्पन्न हो जाता हे। इसके अतिरिक्त शेप सभी वाते सुपमा-सुपमा काल के समान होती हे। तीन कोडा-कोडी सागर प्रमाण इस सुपमा काल मे मनुष्यो की आयु, वल, ऊचाई आदि उत्तरोत्तर घटती जाती है। उत्सर्पिणी के सुपमा नामक पचम काल मे मनुष्यो की आयु, वल, ऊचाई आदि क्रमश वढती जाती हे और शेप सभी वाते अवसर्पिणी के सुपमा नामक द्वितीय काल के समान हे।

सुपमा-दुपमा—अवसर्पिणी के तृतीय काल ओर उत्सर्पिणी के

चतुर्थकाल का नाम सुषमा-दुषमा है। अवसर्पिणी के इस तृतीय काल में मनुष्यों की ऊंचाई एक कोस और आयु एक पल्य होती है। मनुष्य एक दिन छोड़कर दूसरे दिन आंवला के बराबर आहार ग्रहण करते है। इस काल में उत्पन्न बालक-बालिका का युगल शय्या पर सोते हुए सात दिन व्यतीत करता है। फिर शेष सभी योग्यताएं क्रमशः सात-सात दिन व्यतीत होने पर प्राप्त होती है और उनचास दिन में पूर्ण यौवन और कला से सम्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त शेष सभी बातें सुषमा-सुषमा नामक प्रथम काल के समान होती है। तीन कोड़ा-कोड़ी-सागर प्रमाण इस तृतीय काल में मनुष्यों की ऊंचाई, बल और आयु उत्तरोत्तर घटते जाते हैं। जब इस तृतीय काल में पल्योपम के आठवें भाग मात्र काल शेष रह जाता है तब कुलकरों की उत्पत्ति प्रारंभ होती है और क्रमशः चौदह कुलकर होते हैं। अंतिम कुलकर की आयु एक कोटि वर्ष पूर्व और शरीर की ऊंचाई पांच सौ धनुष होती है। उस समय कल्पवृक्ष नष्ट हो जाते हैं। यही भोगभूमि के समापन और कर्मभूमि के प्रारंभ का काल है। उत्सर्पिणी के इस चतुर्थकाल के प्रारंभ में मनुष्यों की आयु एक कोटि वर्ष पूर्व होती है और ऊंचाई पांच सौ धनुष प्रमाण होती है। जो क्रमशः बढ़ती जाती है इस काल में कल्पवृक्षों की उत्पत्ति हो जाती है और शेष सभी बातें अवसर्पिणी के तृतीय काल के समान होती है। अंत में मनुष्यों की आयु बढ़ते-बढ़ते एक पल्य और ऊंचाई एक कोस तक हो जाती है।

सुषमा-सुषमा–अवसर्पिणी के प्रथम काल और उत्सर्पिणी के छठवें काल का नाम सुषमा-सुषमा है। अवसर्पिणी के इस प्रथम काल में भूमि धूल, धूम, कंटक आदि से रहित होती है। चींटी, बिच्छू, मक्खी

आदि विकलत्रय जीवो की उत्पत्ति नहीं होती है। मधुर गध वाली मिट्टी ओर अच्छे प्रकार की घास होती है। निर्मल जल से युक्त सरोवर ओर नदिया होती हे। असझी जीव और परस्पर वेर रखने वाले हिसक जीव नहीं होते। दुराचार ओर व्यसन नहीं होते। इस काल मे उत्पन्न होने वाले मनुष्यो की ऊचाई तीन कोस और आयु तीन पल्य होती हे। इनके शरीर मलमूत्र और पसीने से रहित तथा अत्यत सुदर, सुदृढ ओर सुडोल होते हे। इस काल मे उत्पन्न होने वाले वालक-वालिका के युगल शय्या पर सोते हुए तीन दिन व्यतीत करते हे फिर वेठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणो की प्राप्ति, तारुण्य ओर सम्यग्दर्शन प्राप्ति की योग्यता—इन प्रत्येक अवस्थाओ मे क्रमश तीन-तीन दिन व्यतीत करके इक्कीस दिन मे पूर्ण योवन और कला से सपन्न हो जाते हे। इस काल मे परिवार, ग्राम, नगर आदि नही होते। केवल दस पकार के कल्पवृक्ष होते हे जो प्रत्येक युगल को अपने-अपने मन की कल्पित वस्तुए दिया करते हे। कल्पवृक्षो से प्राप्त वस्तुओ को ग्रहण करके ओर विक्रिया के द्वारा भी अनेक प्रकार के भोगो को भोगते हुए यहा के जीव चक्रवर्ती के भोगो की अपेक्षा अनन्तगुणा विषय-सुख पाते हे। मनुष्य तीन दिन के अतराल से चोथे दिन वेर के वरावर अल्पाहार ग्रहण करते हे। मनुष्य की नो माह की आयु शेष रहने पर स्त्रियो को गर्भ रहता है ओर युगल वालक-वालिका का जन्म होता हे। सतान का जन्म होते ही माता-पिता का मरण हो जाता हे। मरण के समय पुरुष को छीक ओर स्त्री को जभाई आती हे ओर शरीर मेघ के समान विलीन हो जाता हे। इस काल मे गाय, सिह, हाथी आदि उत्तम तिर्यचो के युगल परस्पर वैर भाव के विना मधुर घास को खाकर सुखपूर्वक जीवन

व्यतीत करते है। चार कोडाकोड़ी सागर प्रमाण इस प्रथम काल में शरीर की ऊंचाई, आयु, बल आदि उत्तरोत्तर घटते जाते हैं। उत्सर्पिणी के सुषमा-सुषमा नामक इस छठव काल में शेष सभी बातें अवसर्पिणी के सुषमा-सुषमा नामक प्रथम काल के समान होती हैं। विशेषता यह है कि उत्सर्पिणी-काल में आयु, बल, ऊंचाई आदि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

सुस्वर-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से मधुर आवाज या सुरीला कंठ प्राप्त होता है उसे सुस्वर-नामकर्म कहते हैं।

सूक्ष्म–1 जो परस्पर और अन्य स्थूल स्कंधों के साथ व्याघात या बाधा को प्राप्त नहीं होते हैं वे सूक्ष्म-स्कंध हैं जैसे कर्म वर्गणा आदि। 2 जिनकी गति का जल, स्थल आदि के द्वारा प्रतिघात नहीं होता वे सूक्ष्म-जीव है।

सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती–यह शुक्ल ध्यान की तीसरी अवस्था है। जिन्होंने द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसे केवली भगवान जब आयु का अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है तब सब प्रकार के वचनयोग, मनोयोग और बादर काययोग का निरोध करके सूक्ष्म काययोग का आलंबन लेकर जो ध्यान करते हैं वह सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती-ध्यान है।

सूक्ष्मत्व–इन्द्रिय गोचर न होना सूक्ष्मत्व गुण है। यह सिद्धों के आठ मूलगुणों में एक है जो नामकर्म के क्षय होने पर प्रगट होता है।

सूक्ष्म-नामकर्म–जिसके उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं।

सूक्ष्म-साम्पराय—सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्म-साम्पराय कहते है। जिस चारित्र मे कषाय अति सूक्ष्म हो जाती है वह सूक्ष्म-साम्पराय-चारित्र है। मोहकर्म का उपशमन या क्षपण करने वाले जिस साधु के मात्र सज्वलन-लोभ रूप सूक्ष्म कषाय शेष रह जाती है वह सूक्ष्म-साम्पराय-सयत कहलाता है।

सूक्ष्म-सूक्ष्म—पुद्गल के मात्र दो परमाणु रूप स्कध को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हे।

सूक्ष्म-स्थूल—जो आख से दिखाई नहीं देते किन्तु शेष चार इन्द्रियो से ग्रहण किये जा सकते है ऐसे स्कन्धो को सूक्ष्म-स्थूल कहते है। जैसे—वायु, शब्द, गन्ध आदि।

सूतक—लोक व्यवहार मे जन्म-मरण के निमित्त से हुई अशुद्धि के शोधन को सूतक कहते है। सूतक काल मे देव-पूजा, आहार-दान आदि कार्य नहीं किया जाता।

सूत्र—1 जो ग्रन्थ, तन्तु ओर व्यवस्था इन तीन अर्थो को सूचित करता हे उसे सूत्र कहते है। या जो भले प्रकार से अर्थ को सूचित करे उस वहुअर्थ गर्भित रचना को सूत्र कहा जाता हे। 2 'जीव अकर्ता ही है', 'अभोक्ता ही है', 'सर्वगत ही है' इत्यादि कल्पनायुक्त तीन सो तिरेसठ मिथ्या मतो का जिसमे वर्णन किया गया है वह सूत्र नाम का दृष्टिवाद अङ्ग का एक भेद है।

सूत्रकृताङ्ग—'क्या कल्प हे और क्या अकल्प है' तथा छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओ का जिसमे वर्णन है वह सूत्रकृताङ्ग है।

सूत्र-सम्यग्दर्शन—मुनियों के दीक्षादि का वर्णन करने वाले आचाराङ्ग आदि आचार-सूत्र को सुनकर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे सूत्र-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सूना—ओखली, चक्की, चून्हा, बुहारी और जल रखने का स्थान—ये गृहस्थ के उपयोग में आने वाले पंच-सूना हैं। आहार शुद्धि के लिये इन पांच स्थानों को स्वच्छ तथा जीव-जन्तु से रहित रखना आवश्यक है।

सूर्य-प्रज्ञप्ति—जिसमें सूर्य की आयु, परिवार, गति, बिम्ब की ऊंचाई आदि का वर्णन है उसे सूर्य-प्रज्ञप्ति कहते हैं।

सौम्या-वाचना—व्याकरण संबंधी दोषों की ओर ध्यान न देते हुए सरल और सुबोध व्याख्या करना सौम्या-वाचना है।

स्कन्ध—जिन परमाणुओं में परस्पर बंध हो चुका है वे स्कन्ध कहलाते हैं या स्थूल रूप से पकड़ने, रखने आदि रूप व्यापार जिनमें है वे स्कन्ध हैं। पृथ्वी, जल, प्रकाश, छाया आदि सभी पुद्गल स्कन्ध हैं। स्कन्ध के छह भेद हैं—स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म।

स्तव—चौबीस तीर्थकरों के गुणों का कीर्तन करना स्तव कहलाता है। इसे चतुर्विंशति स्तवन या स्तुति भी कहते हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये छह स्तव के भेद हैं।

स्तिबुक संक्रमण—गति, जाति आदि पिंड प्रकृतियों के उदय आने पर शेष अनुदय प्राप्त प्रकृतियां जो उसी प्रकृति में संक्रमित होकर उदय में आती हैं उसे स्तिबुक-संक्रमण कहते हैं। जैसे—एकेन्द्रिय जीवों के

उदय प्राप्त एकेन्द्रिय जाति नामकर्म मे अनुदय प्राप्त द्वीन्द्रिय जाति आदि का सक्रमित होना।

स्त्यानगृद्धि—जिसके निमित्त से स्वप्न अवस्था मे विशेष शक्ति प्रगट होती हे ओर जीव सोता हुआ भी कार्य करता है उसे स्त्यानगृद्धि कहते हे।

स्त्री-परीषह-जय—एकान्त उद्यान या भवन आदि स्थानो मे यौवन से उन्मत्त स्त्रियो के द्वारा बाधा पहुचाये जाने पर भी जो साधु कामविकार से विचलित नही होता उसके यह स्त्री-परीषह-जय कहलाता है।

स्त्री-वेद—जिस कर्म के उदय से पुरुष के प्रति मैथुन या कामसेवन का भाव होता हे वह भाव स्त्री-वेद कहलाता है।

स्थलगता-चूलिका—जिसमे पृथिवी के भीतर गमन करने के कारणभूत मत्र-तत्र और तपश्चरण का और वास्तुविद्या तथा भूमि सवधी अन्य शुभाशुभ के कारणो का वर्णन किया हे उसे स्थलगता-चूलिका कहते हे।

स्थविर-कल्प—समस्त वस्त्र आदि परिग्रह का परित्याग करके दिगम्बर होना, पिच्छी कमण्डलु रखना, पाच महाव्रत, पाच समिति, पाच इन्द्रिय विजय आदि अट्ठाइस मूलगुणो को धारण करना, हीन सहनन होने के कारण गाव, नगर आदि मे रहना, जिसमे चारित्र भग न हो ऐसे उपकरणो को रखना, जो जिसके योग्य हो उसे पुस्तक देना, समुदाय के रूप मे विहार करना, भव्यो को धर्म सुनाना व शिष्यो का पालन करना, यह सव हीन सहनन वाले साधुओ के योग्य स्थविर-कल्प हे।

स्थिति–1 किसी क्षेत्र मे स्थित पदार्थ की काल मर्यादा निश्चित करना स्थिति है। 2 कर्म रूप से परिणत हुए पुद्‌गल स्कधो का कर्मपने को न छोडते हुए जीव के साथ रहना स्थिति हे। 3 आयु कर्म के उदय से जीव का उस भव विशेप मे शरीर के साथ रहना स्थिति कहलाती है।

स्थितिकरण–धर्म से विचलित होते हुए जीवो को या स्वय को धर्म मे पुन दृढ करना स्थितिकरण अङ्ग है। यह सम्यग्दृष्टि जीव का एक गुण है।

स्थिति-बध–अपने स्वभाव को नही छोडते हुए जितने काल तक कर्म आत्मा के साथ बधे रहते है उसे स्थिति-बध कहते है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोडा-कोडी सागर तथा जघन्य स्थिति अतर्मुहूर्त हे। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अतराय की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोडा-कोडी सागर तथा जघन्य स्थिति अतर्मुहूर्त (सिर्फ वेदनीय की जघन्य स्थिति 12 मुहूर्त) है। नाम व गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 20 कोडा-कोडी सागर और जघन्य स्थिति 8 मुहूर्त है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागर एव जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

स्थिति-भोजन–दीवाल आदि का सहारा न लेकर स्वय स्थिर खडे रहकर अपनी अजली मे आहार ग्रहण करना स्थिति-भोजन कहलाता हे। यह साधु का एक मूलगुण हे।

स्थिर-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से उपवास आदि तप करने पर भी शरीर मे वात, पित्त व कफ की स्थिरता वनी रहती हे ओर शरीर

कमजोर या अशक्त नहीं होता उसे स्थिर-नामकर्म कहते है।

स्थूल—जो छेदन-भेदन करने पर स्वयं जुड़ सकते है ऐसे घी, तेल, पानी आदि स्थूल स्कंध कहलाते है।

स्थूल-सूक्ष्म—जो चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होकर भी अन्य इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किये जा सकते ऐसे छाया, धूप, चांदनी आदि स्थूल-सूक्ष्म स्कंध कहलाते है।

स्थूल-स्थूल—जो टूटने पर स्वतः नहीं जुड़ सकते ऐसे काष्ठ-पत्थर आदि स्थूल-स्थूल स्कंध कहलाते है।

स्नातक—जिनके घातिया कर्म नष्ट हो चुके है ऐसे अर्हन्त भगवान स्नातक कहलाते है।

स्पर्शन—1. जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते है। 2. जीव का नाना काल में कहां तक जाना-आना संभव है यह स्पर्शन नाम का अनुयोग-द्वार है।

स्पर्शन-क्रिया—प्रमादवश स्पर्श करने योग्य सचेतन वस्तु का अनुबंध स्पर्शन-क्रिया है।

स्पर्श-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में ठंडा, गरम आदि स्पर्श उत्पन्न होता है उसे स्पर्श नामकर्म कहते है। यह आठ प्रकार का है—स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कठोर, शीत, उष्ण, हल्का और भारी।

स्याद्वाद—स्यात् का अर्थ है सापेक्ष या कथंचित्। वाद का अर्थ है कथन। अतः अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रत्येक धर्म का सापेक्ष रूप से कथन करने की शैली का नाम स्याद्वाद है।

स्वच्छन्द–देखिए मृगचारी।

स्वदार-सन्तोषव्रत–अपनी विवाहित स्त्री मे ही सतुष्ट रहना और शेष स्त्रियो के प्रति माता, बहिन ओर पुत्रीवत् निर्मल भाव रखना स्वदार सतोषव्रत कहलाता है। इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत भी कहते है।

स्वप्न-निमित्त–स्वप्न के माध्यम से शुभाशुभ को जान लेना स्वप्न-निमित्त-ज्ञान कहलाता है।

स्वभाव–वस्तु का असाधारण और शाश्वत धर्म ही उसका स्वभाव कहलाता है। जैसे–जीव का स्वभाव चेतना या जानना-देखना है।

स्वभाव-पर्याय–'पर' निमित्त के विना जो पर्याय होती है वह स्वभाव पर्याय कहलाती हे। जैसे–जीव की सिद्ध पर्याय स्वभाव पर्याय है।

स्वयभू–जो जीव परोपदेश के विना स्वय ही मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेते हे उन्हे स्वयभू या स्वयबुद्ध कहते है।

स्वयभूरमण–मध्यलोक के अंतिम द्वीप और अतिम समुद्र का नाम स्वयभूरमण है। स्वयभूरमण समुद्र मे सज्ञी पचेन्द्रिय जलचर जीव पाए जाते हे।

स्वर-निमित्त–मनुष्य व तिर्यचो के विचित्र शब्दो को सुनकर शुभाशुभ को जान लेना स्वर-निमित्त-ज्ञान कहलाता है।

स्वरूपाचरण-चारित्र–समस्त रागद्वेष से रहित अपने आत्मस्वरूप मे लीनता रूप चारित्र को स्वरूपाचरण-चारित्र कहते है। यह निर्विकल्प समाधि का अविनाभावी हे।

स्वर्ग–उर्ध्वलोक मे रहने वाले वेमानिक देवो के निवास स्थान को स्वर्ग कहते है। स्वर्ग के दो विभाग हे–कल्प ओर कल्पातीत।

स्वस्तिक– 卐 यह पवित्र ओर कल्याणकारी चिह्न हे। इसका उपयोग मगल कार्यो मे होता हे।

स्वस्थान अप्रमत्त–देखिए अप्रमत्त।

स्वहस्त-क्रिया–जो क्रिया दूसरो के द्वारा करने की हो उसे स्वय अपने हाथ से कर लेना स्वहस्त-क्रिया है।

स्वातिसस्थान-नामकर्म–स्वाति का अर्थ सर्प की वाम्वी या शाल्मली वृक्ष हे। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वाति के समान आकार का होता हे उसे स्वाति-सस्थान-नामकर्म कहते है।

स्वाद्य–मुख का स्वाद वदलने के लिये खाये जाने वाले लोग, इलायची आदि पदार्थ स्वाद्य कहलाते है।

स्वाध्याय–आत्महित की भावना से सत्-शास्त्र का वाचन करना, मनन करना या उपदेश आदि देना स्वाध्याय हे। अयवा आलस्य छोडकर ज्ञान की आराधना मे तत्पर रहना स्वाध्याय नाम का तप है। स्वाध्याय के पाच भेद हे–वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

स्वामित्व–स्वामित्व का अर्थ आधिपत्य हे। अथवा स्वामी का अर्थ अधिष्ठाता या प्रयोक्ता है।

स्वाहा–यह शान्तिवाचक वीजाक्षर है। पूजा मे द्रव्य चढाते समय इसका प्रयोग किया जाता हे।

ह

हास्य—जिस कर्म के उदय से जीव के हास्य (हसी) रूप भाव उत्पन्न होता है उसे हास्य कहते है।

हिंसा—प्रमाद के वशीभूत होकर जीव के प्राणो का वियोग करना या उसे पीडा पहुचाना हिसा है। सकल्पी, आरम्भी, विरोधी और उद्योगी—ऐसी चार प्रकार की हिसा है। द्रव्य-हिसा और भाव-हिसा, इन दो रूपो मे हिसा होती है। मारना या पीडा पहुचाना द्रव्य-हिसा है तथा मारने या पीडा पहुचाने का विचार करना भाव-हिसा है।

हिंसादान—हिसा के कारणभूत अस्त्र-शस्त्र, अग्नि आदि उपकरणो को देना हिसादान नामक अनर्थदण्ड है।

हिंसानन्दी-रौद्रध्यान—तीव्र कषाय के वशीभूत होकर जीवसमूह को स्वय मारने मे या दूसरे के द्वारा मारे जाने मे हर्षित होना और सदा हिसा के कार्यों मे मन लगाए रखना हिसानन्दी नामक रोद्रध्यान है।

हुण्डक-संस्थान—विषम या बेडौल आकृति को हुड कहते है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बेडौल होता है उसे हुण्डक शरीर-सस्थान नामकर्म कहते है।

हुण्डावसर्पिणी—असख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है। इसमे कई बाते असामान्य होती है। जैसे—तृतीय काल मे तीर्थकर व चक्रवर्ती का उत्पन्न होना, चक्रवर्ती का मान भग होना, तीर्थकर पर उपसर्ग होना, अयोध्या के सिवाय अन्यत्र भी तीर्थकरो का जन्म होना, सम्मेदशिखर के अलावा

अन्य स्थानों से तीर्थंकर का मोक्ष जाना आदि।

हेय—जो पदार्थ छोडने योग्य है वे हेय कहलाते है।

ह्रीं—यह चौवीस तीर्थंकर वाचक बीज-पद है। यह एकाक्षरी मन्त्र है। पदस्थ ध्यान में इसका उपयोग होता है। इसे मायाबीज भी कहते है।

परिशिष्ट

• चौसट ऋद्धियां–

1 बुद्धि ऋद्धि (18)

केवलज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, वीज-वुद्धि, कोष्ठ-वुद्धि, पदानुसारी, संभिन्नश्रोतृत्व, दूरस्वादित्व, दूरस्पर्शत्व, दूरदर्शित्व, दूरघ्राणत्व, दूरश्रवणत्व, अभिन्नदशपूर्वित्व, चतुर्दशपूर्वित्व, अष्टाग-महानिमित्त, प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येक-वुद्धि, वादित्व

2. विक्रिया ऋद्धि (20)

क्रिया ऋद्धि ओर विक्रिया ऋद्धि क्रिया ऋद्धि—चारण ओर आकाशगामित्व चारण ऋद्धि (८)—जघा-चारण, तन्तु-चारण, फल-चारण, आकाश-चारण, मघ-चारण, अग्नि-चारण, मारुत-चारण, ज्योतिप-चारण विक्रिया ऋद्धि (11)—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, इशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान, कामरूपित्व

३ तप ऋद्धि (7)

उग्रतप, घोरतप, घोरपराक्रम, घोर ब्रह्मचर्य, तप्त तप, दीप्त तप, महातप

४. वल ऋद्धि (३)

मन-वल, वचन-वल, काय-वल

5 औषध ऋद्धि (8)

आमर्ष, क्ष्वेल, जल्ल, मल, विड्, सर्व, दृष्टिनिर्विष, आस्याविष

6 रस ऋद्धि (6)

आशीर्विष, दृष्टिविष, क्षीरस्रावी, मधुस्रावी, घृतस्रावी, अमृतस्रावी

7. क्षेत्र ऋद्धि (2)

अक्षीणमहानस, अक्षीणमहालय

● आहार के छ्यालीस दोष–

1 उद्गम दोष (16)

अध्यधि, अनिसृष्ट, अभिहृत, आच्छेद्य, अध कर्म, उद्भिन्न, क्रीत, परावर्त, प्रादुष्कर, प्रामृत, प्रामृष्य, पूति, मालारोहण, मिश्र, बलिशेष, स्थापित

2. उत्पादन दोष (16)

धात्री, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्वस्तुति, पश्चात्स्तुति, विद्या, मन्त्रोद्पादन, मूलकर्म

3. अशन दोष (10)

शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, सव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त, त्यक्त

4. सयोजना आदि (4)

सयोजना, प्रमाण, अगार, धूम

• वत्तीस अतराय–

–काक, अमेध्य, छर्दि (वमन), रुधिर, अश्रुपात, जान्वध परामर्श, जानुव्यतिक्रम, नाभ्यधोनिर्गमन, काकादिपिण्डहरण, पाणिपिण्डपतन, पाणिजन्तुवध, मासादिदर्शन, उपसर्ग, जीवसपात, भोजनसपात, उच्चार, प्रस्रवण, अभोज्यगृह प्रवेश, पतन, उपवेशन, सदश, भूमिस्पर्श, निष्ठीवन, उदरकृमिनिर्गम, अदत्तग्रहण, प्रहार, ग्रामदाह, पाद-ग्रहण, करेणकिंचित्ग्रहण, रोधन, प्रत्याख्यान-सेवना, जन्तुवध

• पंच परमेष्ठी–

• अर्हन्त–46 मूलगुण

1. अनन्त चतुष्टय (4)

अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य

2. अष्ट प्रतिहार्य (8)

अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दुन्दुभि, सिहासन, दिव्य-ध्वनि, तीन-छत्र, चमर, प्रभामण्डल

3. अतिशय (34)

जन्मकालीन–1 मलमूत्र रहित शरीर का होना

–2 पसीना रहित शरीर होना

–3 दूध के समान श्वेत रुधिर होना

–4 वज्रवृषभनाराच सहनन होना

–5 समचतुरस्र सस्थान होना

–6 अत्यत सुदर रूप होना

—7 अतुल्य-बल होना

—8 शरीर मे 1008 शुभ लक्षण होना

—9 अति सुगधमय शरीर होना

—10 हितमितप्रिय वचन बोलना

केवलज्ञानकालीन—1 पलक नहीं झपकना

—2 नख व केशो का नहीं बढना

—3 कवलाहार का नही होना

—4 समस्त विधाओं का स्वामीपना होना

—5 शरीर की छाया नही पडना

—6 चारो ओर मुख दिखाई देना

—7 सो योजन तक सुभिक्ष होना

—8 उपसर्ग आदि नही होना

—9 अदया का अभाव होना

—10 आकाश मे गमन होना

देवकृत—1 अर्द्धमागधी भाषा का होना

—2 समस्त जीवो मे परस्पर मित्रता होना

—3 सब ऋतुओ के फल-फूल का एक साथ फलना

—4 पृथ्वी का दर्पण सा निर्मल होना

—5 सब जीवो का आनन्दमग्न होना

—6 भूमि का निष्कटक होना

—7 सुगंधित जल की वृष्टि होना

—8 चलते समय भगवान के चरणो मे सुवर्ण कमलो की रचना होना

—9 मद सुगंधित वायु का वहना

—10 आकाश का स्वच्छ (मेघ रहित) होना

—11 दिशाओ का निर्मल होना

—12 आकाश मे जय-जय ध्वनि होना

—13 भगवान के आगे धर्मचक्र का चलना

—14 छत्र, चमर आदि अष्ट मगल द्रव्यो का साथ चलना

• **सिद्ध—8 मूलगुण—**

क्षायिकसम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अव्याबाधसुख, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व

• **आचार्य—(36) मूलगुण**

1. तप (12)

बाह्य तप (6)—अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति परिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश

आभ्यन्तर तप (6)—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान

2. धर्म (10)

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य

3 पचाचार (5)

दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार

4 आवश्यक (6)

सामायिक, स्तुति (स्तवन), वदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग

5. गुप्ति (3)

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति

- **उपाध्याय (25) मूलगुण**

ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्व (दे श्रुतज्ञान)

- **साधु (28) मूलगुण**

समिति (5)

ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापन

महाव्रत (5)

अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

इन्द्रिय विजय (5)

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र-इन्द्रिय-विजय

आवश्यक (6)

सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग

सात शेष गुण

अचेलकत्व, अदन्तधोवन, अस्नान, एक-भक्त, स्थिति-भोजन, केशलौच, क्षितिशयन

• **कर्म-प्रकृति (8)**

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय

ज्ञानावरणीय (5)

मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मन पर्ययज्ञानावरणीय, केवलज्ञानावरणीय

दर्शनावरणीय (9)

चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि

वेदनीय (2)

साता वेदनीय, असाता वेदनीय

मोहनीय (28)

दर्शनमोहनीय—मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व, सम्यक्त्व

चारित्रमोहनीय कषाय (16)

अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ

अकषाय (नो-कषाय)

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुसक वेद

आयु (4)

देवायु, नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु

नामकर्म (93)

गति नामकर्म–मनुष्यगति, तिर्यचगति, दवगति, नरकगति

जाति नामकर्म–एकन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय

शरीर नामकर्म–ओदारिक शरीर, वेक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तेजस शरीर, कार्मण शरीर

वधन नामकर्म–ओदारिक शरीर वधन, वेक्रियिक शरीर वधन, आहारक शरीर वधन, तेजस शरीर वधन, कार्मण शरीर वधन

सघात नामकर्म–ओदारिक, वेक्रियिक, आहारक, तेजस, कार्मण शरीर सघात

वर्ण–श्वत, रुधिर, कृष्ण, नील, पीत

गन्ध–सुरभि, दुरभि

स्पर्श–कर्कश नाम, मृदक नाम, गुरुक नाम, लघुक नाम, स्निग्ध नाम, रूक्ष नाम, शीत नाम, उष्ण नाम

सस्थान–समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमडल, स्वाति, वामन, कुब्जक, हुडक सस्थान

सहनन–वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक, असप्राप्तासृपाटिका

अङ्गोपाग–ओदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर अङ्गोपाग

आनुपूर्वी–नरकगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यचगत्यानुपूर्वी,

देवगत्यानुपूर्वी

विहायोगति–प्रशस्त ओर अप्रशस्तविहायोगति, अगुरुलघुनाम, उपघात, परघात, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपयाप्त, प्रत्येक-शरीर, साधारण-शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यश.कीर्ति, अयश कीर्ति, निर्माण, तीर्थकर

गोत्रकर्म (2)

उच्चगोत्र, नीचगोत्र

अन्तराय (5)

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय

• **शलाका पुरुष (63)**–

तीर्थंकर (24)

ऋषभदेव, अजितनाथ, सभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी

चक्रवर्ती (12)

भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभौम, महापद्म, हरिषेण, जयसेन, ब्रह्मदत्त

नारायण (9)

त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, पुरुषदत्त, लक्ष्मण, कृष्ण

प्रतिनारायण (9)

अश्वग्रीव, तारक, मेरक (मधु), निशुम्भ, मधुकैटभ, वलि, प्रहरण, रावण, जरासन्ध

बलभद्र (9)

विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दिषेण, नन्दिमित्र, राम, पद्म

● देवगति के देव (4)

भवनवासी देव (10)

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार

व्यन्तर देव (8)

किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच

ज्योतिष्क देव (5)

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारागण

वैमानिक देव

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार, आनत, 'प्राणत, आरण, अच्युत (कल्पवासी)

नौ ग्रैवेयक

अधो ग्रैवेयक—सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध
मध्य ग्रैवेयक—यशोधर, सुभद्र, सुविशाल
उर्ध्व ग्रैवेयक—सुमन, सौमनस्य, प्रीतिकर

नौ अनुदिश

आदित्य, अर्चि, अर्चिमालिनी, वज्र, वैरोचन, सौम्य, सौम्यरूपक; अक, स्फुटिक

पांच अनुत्तर

विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्धी

- **श्रुतज्ञान (2)**

अङ्ग-प्रविष्ट, अङ्ग-बाह्य

अङ्ग प्रविष्ट (द्वादशाग)—आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरोपपादिक दशाङ्ग, प्रश्न व्याकरण, विपाक सूत्र, दृष्टिवाद

दृष्टिवाद (5)

परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चलिका

पूर्व (14)

उत्पाद पूर्व, अग्रायणी पूर्व, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्ति प्रवाद, ज्ञान-प्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्म-प्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रिया विशाल, लोकविन्दुसार

परिकर्म (5)

चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति

चूलिका (5)

आकाशगता, जलगता, मायागता, रूपगता, स्थलगता

अङ्ग बाह्य

सामायिक, चतुर्विंशति स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, वेनयिक, कृतिकर्म, दशवेकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प्यव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, निषिद्धिका आदि

- **बाईस परीषह**

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन

- **आस्रवकारी क्रियाए**

सम्यक्त्व क्रिया, मिथ्यात्व क्रिया, प्रयोग क्रिया, समादान क्रिया, ईर्यापथ क्रिया, प्रादोषिकी क्रिया, कायिकी क्रिया, अधिकरणिकी क्रिया, पारितापिकी क्रिया, प्राणातिपातिकी क्रिया, दर्शन क्रिया, स्पर्शन क्रिया, प्रात्ययिकी क्रिया, समन्तानुपात क्रिया, अनाभोग क्रिया, स्वहस्त क्रिया, निसर्ग क्रिया, विदारण क्रिया, आज्ञाव्यापादिकी क्रिया, अनाकांक्ष क्रिया, प्रारंभ क्रिया, पारिग्राहिकी क्रिया, मिथ्यादर्शन क्रिया, माया क्रिया, अप्रत्याख्यान क्रिया।

मुनिश्री क्षमासागर

श्रेष्ठ संत, मनीषी कवि, प्रवचन में अपूर्व वाग्मिता, चिन्तक, विज्ञानविद्

जन्म	20 सितम्बर 1957, सागर (म प्र)
शिक्षा	एम टेक सागर विश्वविद्यालय
पूर्वनाम	सिघई वीरेन्द्र कुमार
माता	श्रीमती आशादेवी
पिता	जीवन कुमार सिघई
क्षुल्लक दीक्षा	नैनागिरी, 10 जनवरी 1980
ऐलक दीक्षा	मुक्तागिरी, 7 नवम्बर 1980
मुनि दीक्षा	नैनागिरी, 20 अगस्त 1982
काव्य सग्रह	(1) पगडडी सूरज तक (1992)
	(2) मुनि क्षमासागर की कविताए (1996)
अनुवाद	एकीभाव स्त्रोत
सस्मरण	(1) अमूर्त शिल्पी
	(2) आत्मान्वेषी